जैन सांस्कृतिक चेतना

❋

लेखिका
डॉ. श्रीमती पुष्पलता जैन
एम. ए. (हिन्दी, भाषाविज्ञान),
पी-एच्. डी. (हिन्दी, भाषाविज्ञान),
प्राध्यापिका, हिन्दी विभाग,
एस. एफ. एस. कालेज,
नागपुर (महाराष्ट्र)

सन्मति विद्यापीठ, नागपुर
1984

प्रकाशक

जैन ग्रन्थांक—3
ग्रन्थमाला संपादक
डॉ० भागचन्द्र जैन भास्कर

आलोक भास्कर
सचिव, सन्मति विद्यापीठ
न्यू एक्सटेंशन एरिया,
सदर, नागपुर
440001

प्रथम संस्करण—मार्च, 1984

Price—Rs. 40 .00

प्राप्ति-स्थान

(i) सन्मति विद्यापीठ
न्यू एक्सटेंशन एरिया,
सदर,
नागपुर—440001

(ii) मोतीलाल बनारसीदास
बंगलो रोड, जवाहर नगर,
नई दिल्ली—110007

(iii) [illegible] जैन एवं संतति
466/2/21, दरियागंज,
दिल्ली—110006

(iv) सुमति साहित्य सदन
944, नई बस्ती,
[illegible]
दिल्ली—110006

मुद्रक:—के. एल. कम्पोजिंग सेन्टर, मनीहारों का रास्ता जयपुर, 302003,

अध्यात्मनिष्ठ व परोपकारात्मा

स्व. मामी जी की पुनीत स्मृति में

विनम्र श्रद्धाञ्जलि

पुरोवाक्
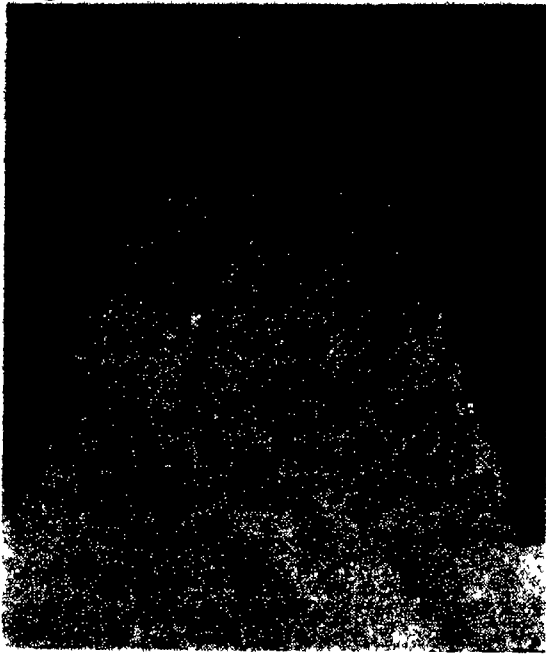
जैन साहित्य और संस्कृति ने एक लम्बे अरसे से भारतीय संस्कृति के विकास में अनन्य योगदान दिया है। उसके ये दोनों क्षेत्र विस्तृत और गहन हैं। जैन मनीषियों ने ऐसी कोई विधा नहीं छोड़ी जिस पर उन्होंने अपनी महत्वपूर्ण लेखनी न चलाई हो।

प्रस्तुत कृति में हमने जैन धर्म के इन दोनों तत्वों के कुछ पहलुओं पर प्रकाश डाला है। जैन साहित्य की परम्परा को एक एक संक्षिप्त रूपरेखा के साथ ही उपस्थित किया है। यहाँ हिन्दी साहित्य को इसलिए छोड़ दिया है कि उस पर हमने "हिन्दी जैन काव्य प्रवृत्तियाँ" शीर्षक पुस्तक में पृथक् रूप से ही विचार किया है। इसके बाद कुछ जैन दर्शन और रहस्य साधना के मुद्दों पर प्रकाश डाला। बाद में 'नारी धर्म चेतना' अध्याय में नारी की कतिपय समस्याओं को व्यावहारिक दृष्टि से समझने-समझाने का प्रयत्न किया है। आशा है, विद्वान पाठक इन विचारों पर सहानुभूति और सहिष्णुता पूर्वक विचार करेंगे।

इस पुस्तक में मैंने अपने कुछ निबन्धों को भी समाहित कर लिया है। सन्मति विद्यापीठ इसे 'जैन सांस्कृतिक चेतना' के नाम से प्रकाशित कर रहा है। तदर्थ हम उसके आभारी हैं।

(डॉ.) श्रीमती पुष्पलता जैन
मानद उपनिदेशक

न्यू एक्सटेंशन एरिया,
सदर, नागपुर—440001
दि. 28-4-1984

विषयानुक्रम

1. प्रथम परिवर्त

2. द्वितीय परिवर्त

3. तृतीय परिवर्त

4. चतुर्थ परिवर्त

5. पञ्चम परिवर्त

1

जैन धर्म की एतिहासिक एवं साहित्यिक परम्परा

1. जैन ऐतिहासिक परम्परा

जैन धर्म वर्ग, जाति, लिंग आदि जैसे मानवकृत कटघरों से उन्मुक्त विशुद्ध आध्यात्मिक धर्म है। आत्मा की पवित्रतम ऊंचाई को छूकर-पाकर उसके ज्ञानात्मक और दर्शनात्मक स्वभाव में रमण करना व्यक्ति का परम कर्तव्य है। जैन धर्म इस कर्त्तव्य के साथ सामाजिकता और मानवीयता को सहजतावश एकबद्ध कर देता है।

1. आद्य परम्परा तीर्थंकर ऋषभदेव से नेमिनाथ तक

जैन धर्म की कहानी व्यक्ति की सृष्टि की कहानी है। अनादि और अनन्त की कहानी है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के कालचक्र से घूमता हुआ सृष्टिचक्र कुलकर व्यवस्था मे केन्द्रित हुआ और उसने आदिनाथ ऋषभदेव से बहत्तर कलाओं की शिक्षा पाकर भोगभूमि से कर्म भूमि की ओर अपने विकास के कदम बढ़ाये। कर्मभूमि में पदार्पण होते ही क्षमा, संतोष आदि सहज धर्मों में लिप्सा, मोह, क्रोध आदि बाह्य विकारो की वक्रता घर करती गई और फलत: भरत—बाहुबलि जैसे भाइयों के संघर्ष संसार के घिनोने स्वरूप को प्रगट करने लगे।

आदिनाथ के बाद जैन धर्म अजितनाथ, संभवनाथ आदि बीस और आध्यात्मिक महापुरुषों की सुखद छाया को छूता बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के काल तक पहुंचा। इस बीच की कोई परम्परा स्पष्ट रूप में उपलब्ध नहीं होती। सिन्धु घाटी की सभ्यता मे जैन संस्कृति के बीज नहीं, विकसित चिन्ह खोजे जा सकते हैं और वेदों की ऋचाओं मे जैन मुनियों की जीवन-रेखा को अंकित पाया जा सकता है। आर्हत्, व्रात्य, वातरशना के अनेक उल्लेखों ने विद्वानों को यह मानने के लिए बाध्य कर दिया है कि जैन संस्कृति वैदिक संस्कृति के साथ-साथ चलती रही है। कुछ विद्वानों का तो यह भी मत है कि जैन संस्कृति वैदिक संस्कृति से भी पूर्वतर होनी चाहिए।

ज्ञातृधर्म कथा (5) में बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि को भगवान श्री कृष्ण का आध्यात्मिक गुरु माना गया है। छान्दोग्योपनिषद् (3.17,6) में घोर आंगिरस द्वारा

प्रदत्त श्री कृष्ण का उपदेश जैन परम्परा का स्मरण करा देता है। श्री मुनि नथमल आंगिरस और अरिष्टनेमि को एक ही व्यक्तित्व होने की सम्भावना व्यक्त करते हैं। श्रीकृष्ण और अरिष्टनेमि के पारिवारिक सम्बन्धों से भी हम परिचित ही हैं।

2. तीर्थंकर पार्श्वनाथ और महावीर

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ से जैन संस्कृति का ऐतिहासिक काल प्रारम्भ होता है। इनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरों को पौराणिक कहकर नकारा जा सकता है पर पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता को अस्वीकार करने का साहस अब किसी में नहीं है। उनकी परम्परा भगवान महावीर के काल तक चलती रही है। महावीर का समूचा परिवार पार्श्वनाथ परम्परा का अनुयायी रहा है। पार्श्वनाथ का जन्म महावीर से 250 वर्ष पूर्व वाराणसी नगर में हुआ। उनके पिता राजा अश्वसेन और माता वामा थी। यह एक ऐसा समय था जबकि परीक्षित के बाद जनमेजय कुरु देश में यज्ञ संस्कृति का प्रचार कर रहा था।

जैन साहित्य में तो पार्श्व परम्परा का वर्णन मिलता ही है पर बौद्ध साहित्य भी इससे अछूता नहीं रहा। पालि त्रिपिटक मे पार्श्वनाथ की चातुर्याम परम्परा का विवरण मिलता है—अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह। यह विवरण कुछ धूमिल रूप मे अवश्य उपलब्ध है पर वह अस्पष्ट और अननुसन्धेय नहीं है। तथागत बुद्ध ने भी पार्श्व परम्परा में दीक्षा ली थी। उनके प्रमुख शिष्य सारिपुत्र और मौद्गल्यायन भी कदाचित् बुद्ध के अनुयायी होने के पूर्व पार्श्व परम्परा के अनुयायी थे। यज्ञ संस्कृति का विरोध करने वाली पार्श्वनाथ परम्परा का श्रमण संघ बुद्ध काल में मौजूद था उसकी साधना विशुद्ध आध्यात्मिक साधना थी। कहा जाता है, चातुर्याम परम्परा अजितनाथ से पार्श्वनाथ तक रही है। उसे पंचयाम में चौबीसवें तीर्थंकर महावीर ने परिवर्तित किया था।

भगवान पार्श्वनाथ के उपरान्त चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान महावीर हुए। वे अपने समय के कुशल चिन्तक और सामाजिक तथा धार्मिक परम्पराओं किंवा रूढ़ियों को तोड़कर, उन्हें सुव्यवस्थित करने वाले प्रतिभाशाली दार्शनिक तथा धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति के अग्रदूत थे। उन्होंने व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को अपने सूक्ष्मचिंतन तथा ज्ञान से आलोकित किया। उत्तर काल में उनके अनुयायी शिष्यों-प्रशिष्यों ने महावीर के चिन्तन को आधार बनाकर समयानुसार उनके तत्वों को विकास के चरण-पथ पर संजो दिया।

उनका आविर्भाव हमारी भारत वसुन्धरा के रमणीय बिहार (विदेह) प्रदेश के वैशालीय क्षत्रिय कुण्डग्राम में चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की मध्य रात्रि में ई. पू.599 में हुआ था। उनके पिता राजा सिद्धार्थ थे जिन्हें श्रेयांस और यशस्वी भी कहा जाता था और माता का नाम वाशिष्ठ गोत्रीय त्रिशला था जो विदेहदत्ता और प्रियकारिणी के नाम से भी विश्रुत थीं।

बालक वर्धमान की मेधा और प्रतिभा प्रारम्भ से ही इतनी चमत्कारी थी कि लगता था कि जैसे किसी बृहस्पति का अवतार हुआ हो। उनके प्रातिभ ज्ञान के समक्ष अन्य साधनों की आवश्यकता नगण्य थी। इसलिए बालक वर्धमान की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा के विषय में कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलते। सुखद वातावरण की गोद में पला पुसा बालक स्वयं प्रबुद्ध बन गया था।

वर्धमान एक सामन्त परिवार के सदस्य थे। उन्हें चुल्ल पिता सुपार्श्व, बुआ यशोधरा, अग्रज नंदिवर्धन, भाभी ज्येष्ठा और अग्रजा सुदर्शना का लाड़-प्यार और सान्निध्य मिला। बाल्यावस्था से युवावस्था तक आते-आते वर्धमान के चिन्तन और प्रेक्षण में और गहराई आयी। संसार के स्वरूप को परखा। आत्मा तथा शरीर और जीव तथा अजीव के यथार्थ भेद को अपने आंतरिक और बाह्य ज्ञान के माध्यम से अनुभव किया। यही कारण था कि वे स्वयं को वैवाहिक बन्धन में नहीं बांधना चाहते थे। फिर भी कहा जाता है कि उन्होंने अपने परिवार के स्नेहवश वसंतपुर के महासामंत समवीरा जितशत्रु की पुत्री यशोदा के साथ परिणय किया और कालांतर में वे एक पुत्री के पिता भी हुए जिसका विवाह-संबंध जामाली के साथ हुआ। उनका विवाह हुआ हो या नहीं, पर इतना अवश्य है कि उनके मन में भेद-विज्ञान कूट-कूट कर भर गया था और वे सांसारिक वासनाओं से विमुक्त हो गये थे।

अहंकार और ममकार का विसर्जन मुक्ति-प्रक्रिया का दर्शन है। एक दास को पीटता हुआ देखकर उन्हें संसारबोध हुआ और कालांतर में उन्होंने मृगशिर कृष्णा दशमी को चतुर्थ प्रहर में उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के योग में घर छोड़कर महाभिनिष्क्रमण किया। यह उनका स्वतंत्रता के लिए महाभियान था। इस महाभियान में उनके पांच संकल्प स्मरणीय हैं—

1. मैं अप्रीतिकर स्थान में नहीं रहूंगा
2. प्रायः ध्यान में लीन रहूंगा।
3. प्रायः मौन रहूंगा।
4, हाथ में भोजन करूंगा।
5. गृहस्थों को अभिवादन नहीं करूंगा।

इन संकल्पों के साथ वर्धमान महावीर ने लगातार बारह वर्ष तेरह पक्ष तक छद्मस्थ काल में कठोर तपस्या की। इस बीच उन्हें गोपालक, शूलपाणि, चंड-कौशिक अहिन, कटपूतना, लोहार्गला, वज्र भूमि, संगम, कर्ण शलाका आदि प्राकृतिक अप्राकृतिक उपसर्ग सहन करना पड़े। इन दारुण दुःखदायी उपसर्गों को उन्होंने जिस धैर्य और शांति से सहन किया वह एक अप्रतिम घटना थी। पैतृक परम्परा से वे पार्श्वनाथ सम्प्रदाय के अनुयायी थे, पर उनका आत्मतेज उस परम्परागत धर्म से

कहीं आगे बढ़ा हुआ था जिसने उन्हें तीर्थंकर बनाया। इस संदर्भ में महावीर के वे दस स्वप्न उल्लेखनीय हैं– जिन्हें उन्होंने एक रात्रि में साधना काल में देखे थे—

1. ताल-पिशाच को स्वयं अपने हाथ से गिराना।
2. श्वेत पुंस्कोकिल का सेवा में उपस्थित होना।
3. विचित्र वर्णमाला पुंस्कोकिल के सामने दिखाई देना।
4. सुगंधित दो पुष्पमालायें दिखाई देना।
5 श्वेत गो-समुदाय दिखाई देना।
6. विकसित पद्म सरोवर का दर्शन।
7. स्वयं को महासमुद्र पार करते देखना।
8. दिनकर किरणों को फैलते हुए देखना।
9. अपनी आंतों से मानुषोत्तर पर्वत को वेष्टित करते हुए देखना, और
10. स्वयं को मेरु पर्वत पर चढ़ते हुए देखना।

पार्श्वनाथ परम्परा के अनुयायी निमित्त ज्ञानी उत्पल ने इन स्वप्नों का क्रमश: फल महावीर से इस प्रकार कहा—

1. आप मोहनीय कर्म का विनाश करेंगे।
2. आपको शुक्लध्यान की प्राप्ति होगी।
3. आप विविध ज्ञानरूप द्वादशांग श्रुत की प्ररूपणा करेंगे।
4. चतुर्थ स्वप्न का फल उत्पल नहीं समझ सका।
5. चतुर्विध संघ की आप स्थापना करेंगे।
6. चारों प्रकार के देव आपकी सेवा में उपस्थित रहेंगे।
7. आप संसार सागर को पार करेंगे।
8. आप केवलज्ञान प्राप्त करेंगे।
9. आपकी कीर्ति त्रिलोक में व्याप्त होगी, और
10. सिंहासनारूढ़ होकर आप लोक में धर्मोपदेश करेंगे।

जिस चतुर्थ स्वप्न का फल उत्पल नहीं बता सका उसे महावीर ने स्पष्ट किया कि वे श्रावक धर्म और मुनि धर्म का कथन करेंगे। हम जानते हैं कि स्वप्न व्यक्ति की मन: स्थिति का प्रतीक होता है। उनके पीछे प्राय: एक सजग पृष्ठभूमि प्रतिबिम्बित होती दिखाई देती है। महावीर के स्वप्न मात्र स्वप्न नहीं थे बल्कि उनके दृढ़ निश्चय और मानसिक विशुद्धि के परिचायक थे। इसी की चरम अभिव्यक्ति उनके केवलज्ञान की प्राप्ति तथा तीर्थ प्रवर्तन में दृष्टव्य है। उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति वैशाख शुक्ल दशमी को, दिन के चतुर्थ प्रहर में ऋजुकूला नदी के तटवर्ती शाल वृक्ष के नीचे गोदोहिका आसन काल में हुई। फल-स्वरूप चार घातिया कर्मों का विनाश करके वे अरिहंत हो गये।

केवलज्ञानी और सर्वज्ञ महावीर ने संसारी जीवों के कल्याण के लिए बीड़ा उठाया और वे जृम्भिका ग्राम से माध्यम-पावा में पहुंचे जहां सोमिल ब्राह्मण ने एक विराट यज्ञ की संयोजना की थी। इस यज्ञ को पूरा करने के लिए आस-पास के अनेक मूर्धन्य पंडित उपस्थित हुए थे। गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति अग्निभूति और वायुभूति मगध से, व्यक्त और सुधर्मा कौलाग सन्निवेश से, मंडित और मौर्य पुत्र मौर्य संन्निवेश से, अकंपित मिथिला से अचलभ्राता कौशल से, मेतार्य तुंगिक से और प्रभास राजगृह से आये। ये सभी विद्वान ब्राह्मण गोत्रीय थे और वे अपनी 4400 शिष्य मंडली के साथ यज्ञ शाला मे उपस्थित थे। महावीर को अपनी धर्म देशना के लिए इन विद्वानों की आवश्यकता थी। इसी दृष्टि से वे यज्ञशाला के समीपवर्ती उद्यान में पहुंचे। बिजली के समान बड़ी शीघ्रता पूर्वक उनके आगमन का समाचार सारे नगर में फैल गया। राजा से लेकर रंक तक उनके तपोतेज के समक्ष नतमस्तक होने पहुंचने लगे।

भीड़ को किसी एक ओर जाते देखकर इन्द्रभूति गौतम ने जिज्ञासा प्रकट की और यह जानकर कि श्रमण महावीर आये हैं, एक मानसिक चिन्ता से ग्रस्त हो गये। वे यह जानते थे कि उनकी यज्ञ सस्था को महावीर के पूर्ववर्ती तीर्थंकर पार्श्व नाथ ने काफी हानि पहुंचायी थी और उनके अनुयायी अभी भी उन्हें शांति से नहीं बैठने देते थे। इन्द्रभूति को लगा कि महावीर को पराजित किए बिना यज्ञों की लोकप्रियता बढ़ायी नहीं जा सकती। वे चल पड़े महावीर के पास विवाद करने के उद्देश्य से और पहुंचे समवशरण मे। उन्हे आता देखकर महावीर ने गोत्र और नाम के साथ इन्द्रभूति का आह्वान किया और बाद मे उनकी दार्शनिक शकाओं का समाधान किया। प्रारम्भ मे तो इन्द्रभूति अहंकार के मद से भरे थे, पर बाद में धीरे-धीरे उन्होंने महावीर के चुम्बकीय व्यक्तित्व को प्रणाम किया और उनके शिष्य बन गये।

इन्द्रभूति की यह स्थिति देखकर उनके भाई अग्निभूति और वायुभूति भी कुछ हतप्रभ-से हुए पर वे इन्द्रभूति को महावीर के प्रभाव से मुक्त करने के लिए उनके पास शास्त्रीय चर्चा के लिए निकल पड़े। अंत में वे भी महावीर के प्रभाव से बच न सके। इसी तरह शेष विद्वान भी एक-एक कर महावीर के समवशरण में दीक्षित होते गये। यह उनकी धर्म देशना का प्रथम प्रभाव था।

महावीर काल में प्रचलित दार्शनिक मतों की सख्या सूत्रकृतांग व गोमट्टसार आदि ग्रंथों में 363 बतायी है और बौद्ध ग्रंथों में 62 प्रकार की मिथ्या दृष्टियों का उल्लेख आया है। इन मत वादों का कुछ अनुमान हम उपर्युक्त 11 विद्वानों के विविध सिद्धांतों से भी लगा सकते हैं—

1. इन्द्रभूति गौतम — आत्मा का अस्तित्व नहीं है।
2. अग्निभूति — कर्म का अस्तित्व नहीं है।
3. वायुभूति — चैतन्य भूतों का धर्म है तथा शरीर और आत्मा अभिन्न है।
4. व्यक्त — पंच भूतों का अस्तित्व नहीं है।
5. सुधर्मा — प्राणि मृत्यु के बाद अपनी ही योनि में उत्पन्न होता है।
6. मंडित — बंध और मोक्ष नहीं है।
7. मौर्यपुत्र — स्वर्ग नहीं है।
8. अकंपित — नरक नहीं है।
9. अचलभ्रात — पुण्य और पाप पृथक् नहीं हैं।
10. मेतार्य — पुनर्जन्म नहीं है।
11. प्रभास — मोक्ष नहीं है।

तीर्थंकर महावीर ने इन विद्वानों को अपना शिष्य बनाया और उन्हें अपने सिद्धान्तों की व्याख्या करने योग्य बनाकर 'गणधर' की पदवी से अलंकृत किया। उनके साथ उनका शिष्य परिकर भी महावीर के चरणों में नतमस्तक हो गया। इससे महावीर का धर्म अहर्निश लोकप्रियता की ओर बढ़ने लगा। श्रमण, श्रमणी श्रावक, और श्राविका के रूप में चतुर्विध संघ की स्थापना कर उन्होंने धर्म को घर-घर पहुँचा दिया। संघ को व्यवस्थित करने की दृष्टि से उन्होंने उसे सात घटकों में विभाजित कर दिया–1. आचार्य 2. उपाध्याय, 3. स्थविर, 4. प्रवर्तक, 5. गणी, 6. गणधर, तथा 7. गणावच्छेदक। इन घटकों का चारित्रिक विभाग भी प्रस्तुत किया जिसके आधार पर उनका पारस्परिक व्यवहार चलता था।

महावीर का युग विषमता का युग था। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था से ग्रस्त था। नीच-ऊँच भावना के दूषित रोग से ग्रस्त था। इस त्रासदी की कीचड़ से निकलने के लिए हर व्यक्ति उछल रहा था। इसलिए तीर्थंकर महावीर ने समता का पाठ दिया ऐसी विषम परिस्थिति में और समाज को अभिमुख किया एक नये क्रान्तिकारी आन्दोलन की ओर। उनका मन्तव्य था कि प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति निहित है। वह अनादिकाल से कर्मों के वशीभूत होकर जन्म-मरण की प्रक्रिया से अभिभूत हो रहा है। जन्म से कोई ब्राह्मण नहीं, ब्राह्मण होता है कर्म से। इसलिए कर्म व्यक्ति-व्यक्ति के बीच ऊँच-नीच का भेद करता है, जन्म नहीं। मानसिक, वाचिक और कायिक विशुद्धि सापेक्षता लिए हुए रहती है। कर्म की अवस्थिति इसी सापेक्षता पर अवलंबित है।

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि महावीर की दृष्टि में मात्र वेश [illegible] के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। साधु के लिए यदि उसकी आन्तरिक पवित्रता नहीं है तो उसे साधु कैसे कहा जा सकता है? इसलिए तिलक, यज्ञोपवीत, [illegible], शिरमुंडन आदि साधुत्व का वेश तो हो सकता है। पर जब तक उसके साथ आन्तरिक निर्मलता, निस्पृहता और वीतरागता की अकंपता न हो तब तक उसका साधुत्व पशु ही कहा जायेगा। तप की समृद्धि सम्यक्-दर्शन-ज्ञान—चारित्र की समृद्धि के बिना नहीं कही जा सकती है।

इसी तरह उस समय धर्म का सम्बन्ध हिंसात्मक यज्ञों से हो गया था। नरमेध, अश्वमेध आदि यज्ञों में खाद्य सामग्री की आहुति एक साधारण प्रक्रिया थी। महावीर ने ऐसे यज्ञों का विरोध किया और मूक पशुओं की बलि को व्यर्थ सिद्ध किया। उसके स्थान पर दुष्कर्मों की बलि देने की बात कही। इससे गरीब जनता को खाद्य सामग्री उपलब्ध हो सकी तथा पशुहिंसा कम हो गई।

महावीर की अहिंसा जीवन को सुव्यवस्थित करने वाली अहिंसा थी। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की अहिंसा थी। इस अहिंसा में राजनीतिक युद्ध की अवास्तविकता को सिद्ध किया गया था। ये युद्ध अपने तथाकथित स्वार्थ अथवा बड़प्पन को बनाये रखने के लिए मानवता पर क्रूर दलन था। इसलिए महावीर ने अनाक्रमण की बात कही। अतिक्रमण और आक्रमण दोनों तत्त्व युद्ध के ही दो पहलू हैं। यदि इन तत्त्वों से विमुख रहकर व्यक्ति और समाज के अभ्युत्थान की ओर ध्यान दें तो उसकी वास्तविक सचेतनता कही जानी चाहिए। इसका तात्पर्य यह भी नहीं कि वह प्रत्याक्रमण करे ही नहीं या कायर बना रहे। प्रत्याक्रमण के लिए यदि वह विवश किया जाये तो पूरी शक्ति के साथ उसका प्रतिरोध करना भी उसकी ही कर्त्तव्य-परायणता कही जायेगी। बस, हिंसा की अनिवार्यता में करुणा की सजगता सन्निहित रहनी चाहिए। इसलिए यह अहिंसा कायरों की नहीं, वीरों की अहिंसा है; दायित्व-शून्य की नहीं, उत्तरदायित्वपूर्ण की अहिंसा है।

अहिंसा के साथ अपरिग्रह की भी बात जुड़ी हुई है। परिग्रह साधारण तौर पर बिना शोषण के नहीं हो सकता। आवश्यकता से अधिक का संग्रह करना समानता की दृष्टि से क्रूर भावना है। साथ ही जो भी संग्रह किया जाये वह भी न्याय पूर्वक हो। अन्तरंग परिग्रह है मूर्च्छा या आसक्ति तथा बाह्य परिग्रह है भौतिक सामग्री। मानसिक आग्रह से मुक्त होना अपरिग्रही वृत्ति के लिए आवश्यक है। अतः इच्छा-परिमाण तथा वस्तु-परिमाण ये अपरिग्रह की दो सही दिशाएँ हैं। व्यावहारिक और व्यापारिक भ्रष्टाचार भी असंग्रह की भावना से दूर हो सकता है।

इस प्रकार तीर्थंकर महावीर ने राजनीतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक क्रान्ति के तीन सूत्र दिये—समता, पुरुषार्थ और निर्वाण-मार्ग। [illegible] और नारी-

मुक्ति जैसे आन्दोलन भी इन्हीं सूत्रों में अनुस्यूत थे। इन सूत्रों में जीवन का शाश्वत मूल्य छिपा हुआ है। मानवीय दृष्टिकोण से ओतप्रोत ये सूत्र विश्वबन्धुत्व को अपने अंक में छिपाये, आज भी उतने ही आवश्यक हैं जितने पहले थे। आज के परमाणुयुग में तो इन सूत्रों को जगाने की कहीं अधिक आवश्यकता प्रतीत होती है। इसलिए महावीर के धर्म की उपयोगिता पर विशेष प्रकाश डाला जाना चाहिए।

यहां यह उल्लेखनीय है कि तीर्थंकर महावीर का सुसम्बद्ध जीवन-चरित्र लगभग 8-9वीं शती में लिपिबद्ध हुआ। दिगम्बर परम्परा में तिलोयपण्णत्ति और तिसट्ठिमहापुरिसगुणालकार का आधार लेकर गुणभद्र ने उत्तरपुराण (शक सं. 820) में उनकी संक्षिप्त जीवन रेखाएँ प्रस्तुत कीं। श्वेताम्बर परम्परा में आचारांग, सूत्रकृतांग आदि प्राकृत जैनागमों से छुटपुट उद्धरणों का आधार लेकर कल्पसूत्र की रचना हुई। आगे इसी का आधार बनाकर शीलाकाचार्य, हेमचन्द्राचार्य आदि जैसे विद्वानों ने अपने ग्रन्थों का निर्माण किया। पालि त्रिपिटक में कुछ थोड़े से उल्लेख अवश्य मिलते हैं। पर वे उनके साधना काल से सम्बद्ध हैं। वैदिक साहित्य में महावीर का कोई प्राचीन उल्लेख नहीं मिलता। यह आश्चर्य का विषय है। इसलिए उत्तरकाल में जो भी ग्रन्थ लिखे गये उनमें ऐतिहासिकता के साथ ही चमत्कारात्मक तत्त्वों ने भी प्रवेश कर लिया जिनका विश्लेषण करना भी आवश्यक है।

प्राय: प्रत्येक धर्म और संस्कृति में युगपुरुष हुए हैं। समय के प्रवाह में उन युग पुरुषों के जीवन प्रसंगों के साथ चमत्कार जोड़ दिये गये हैं। इन चमत्कारों को प्रातिहार्य अथवा अतिशय कह दिया जाता है और फिर घटनाओं के साथ उनकी अभिन्नता स्थापित कर दी जाती है। यह सब एक ओर उस महामहिम व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धा और भक्ति का प्रदर्शन है तो दूसरी ओर लेखक के ऐतिहासिक ज्ञान की न्यूनता का प्रतीक है। यह भी मानवीय स्वभाव है कि जब तक किसी के साथ चमत्कार नहीं जुड़ेगा तब तक उसको अपेक्षित प्रतिष्ठा नहीं मिलेगी। यही कारण है कि महावीर के जीवन की हर घटना को भक्त साहित्यकारों ने असाधारण बना दिया। इस असाधारणता की भी एक सीमा होती है। पर जब उसका भी अतिक्रमण हो जाता है तो वह अविश्वसनीय-सी बन जाती है। भ० महावीर की जीवन घटनाओं में भी चमत्कार का आधिक्य कम नहीं। अत: आवश्यक यह है कि उनके ऐतिहासिक रूप को खोजने का प्रयत्न किया जाय। यहाँ हमने ऐसी घटनाओं को ही अपने विश्लेषण का विषय बनाया है।

भ० महावीर और बुद्ध के समय ब्राह्मण संस्कृति ह्रास की ओर जा रही थी और क्रियों का प्राबल्य बढ़ रहा था वैदिक विचारधारा में जो विषमता और हिंसा बहुल क्रियाकलाप थे उनके विरोध में इन महापुरुषों ने अपने क्रांतिकारी

विचार प्रस्तुत किये। दोनों संस्कृतियों में परस्पर विरोध इतना बढ़ा कि किसी भी तीर्थंकर को ब्राह्मणकुल में उत्पन्न होना असम्भव कर दिया और क्षत्रिय कुल को ही विशुद्ध कुल मान लिया। इसी कुल में तीर्थंकर चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि महापुरुषों को जन्म लेना उचित बतलाया। इतना ही नहीं, महावीर को पहले ब्राह्मणकुल में उत्पन्न देवानन्दा के गर्भ में धारण कराया और फिर उसे अशुद्ध और अयोग्य बताकर क्षत्रियाणी त्रिशला के गर्भ में पहुंचाया। यह सब कार्य इन्द्र ने हरणैगमेषी देव के द्वारा करवाया। आचाराग सूत्र आदि ग्रन्थों में तो यह भी विस्तार से बताया गया है कि हरणैगमेषी ने गर्भ परिवर्तन किस प्रकार से किया। यह सब निश्चित ही ब्राह्मण जाति की अपेक्षा क्षत्रिय जाति को श्रेष्ठ बताने के लिए किया गया है। आज का विज्ञान गर्भ परिवर्तन कराने में सक्षम भले ही हो जाय परन्तु आज से लगभग पच्चीस सौ वर्ष पहले का विज्ञान इतना उन्नत और समृद्ध नहीं था और फिर यह तो किसी मानव ने नहीं बल्कि देव ने किया है। इस घटना से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जैनधर्म प्रमुखतः क्षत्रियों का धर्म बन दिया गया था।

कहा जाता है, तीर्थंकर के गर्भावतरण के छः मास पूर्व से ही देवगण के माता-पिता के राजप्रासाद पर रत्नो की वृष्टि करते हैं। यह रत्नवृष्टि धन-सम्पत्ति की प्रतीक हो सकती है। सभव है, राज–महाराजे अथवा महासामंतों को ऐसे समय अपने आधीन रहने वाले कर्मचारियों से तरह-तरह के उपहार मिला करते हों। इन्द्र सद्यःजात बालक को सुमेरुपर्वत पर ले आकर स्नान कराता है। यह क्रिया बालक के जन्म के तुरन्त बाद स्नान क्रिया का चामत्कारिक वर्णन होना चाहिए।[2] महावीर के जन्म-महोत्सव का जो वर्णन मिलता है वह एक साधारण जन्म महोत्सव का वृहद् रूप होगा।

बाल्यावस्था में भी इसी प्रकार की अनेक चमत्कार से भरी हुई घटनाओं का उल्लेख मिलता है। विषधर सर्प का रूप धारण कर परीक्षा के निमित्त देव का आना, शिक्षा ग्रहण के समय चमत्कारक बुद्धि की अभिव्यक्ति का कारण मूलतः श्रद्धा और भक्ति रहा होगा। इसके बाद भ० महावीर के जीवन की घटनाओं का कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता। जो भी हैं, प्रायः चमत्कारों से भरे हुए हैं।

साधक महावीर ने महाभिनिष्क्रमण करते ही यह अभिग्रह किया कि वे देह की ममता को छोड़कर सभी प्रकार का उपद्रव समभाव पूर्वक सहन

---

1. कल्पसूत्र, 91
2. आदिपुराण, 13,84; पउम चरिउ, 3, 67

करेंगे। वह समभाव उनकी अंतिम साधना तक बना रहा। कायोत्सर्ग से महाभिनिष्क्रमण कर महावीर कर्मारग्राम पहुंचे जहां उन्हें कोई पहिचान न सका। चूंकि वे एक महासामन्त के पुत्र थे इसलिए शायद वे जन-जीवन में नहीं आ सके होंगे।

समूची साधना के बीच इन्द्र आदि जैसी कोई न कोई विभूति उनका संरक्षण करती रही। उपसर्गों का प्रारम्भ और अन्त दोनों गोपालक से हुआ है। गौ से सम्बद्ध होने के कारण क्यों न इस संयोग को वात्सल्य अंग का प्रतीक माना जाय जो जैनधर्म का प्रमुख अंग है।

तपस्वी महावीर पर प्रथमतः ग्वाला जब प्रहार करने दौड़ता है तो तुरन्त ही उसे भान करा दिया जाता है कि–ओ मूर्ख ? तू यह क्या कर रहा है ? क्या तू नहीं जानता ये महाराज सिद्धार्थ के पुत्र वर्धमान राजकुमार हैं। ये आत्म-कल्याण के साथ जगत-कल्याण के निमित्त दीक्षा धारण कर साधना में लीन हैं।[2] यह कथन साधना का उद्देश्य प्रकट करता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति मे साध्य और साधन दोनों की विशुद्धि ने साधक को कभी विचलित नही होने दिया।

यहीं इन्द्र वर्धमान की सहायता करना चाहता है पर साधक वर्धमान कहते हैं कि "अर्हन्त केवलज्ञान की सिद्धि प्राप्त करने मे किसी की सहायता नहीं लेते। जिनेन्द्र अपने बल से ही केवलज्ञान की प्राप्ति किया करते हैं।[3] इसके बावजूद इन्द्र ने सिद्धार्थ नामक व्यंतर की नियुक्ति कर दी जो वर्धमान की अन्त तक रक्षा करता रहा। हम जानते हैं, महावीर के पिता का नाम सिद्धार्थ था और गौतम बुद्ध का भी नाम सिद्धार्थ था। सिद्धार्थ को व्यंतर कहकर उल्लिखित करने का उद्देश्य यही हो सकता है कि घटना-लेखक गौतम बुद्ध के व्यक्तित्व को नीचा करना चाहता रहा हो। दोनो धर्मों मे इस प्रकार की घटनाओं का अभाव नहीं। इन्द्र को वैदिक संस्कृति मे प्रधान देवता का स्थान मिला है। वर्धमान के चरणों में नतमस्तक कराने का उद्देश्य एक ओर साधक के व्यक्तित्व को ऊंचा दिखाना और दूसरी ओर श्रमण संस्कृति को उच्चतर बतलाना रहा है। सिद्धार्थ यदि व्यंतर होता तो उसमे महावीर

---

1. बारस वासाई वोसट्ठकाए चियत्त देहे जे केई उवसग्गा समुप्पज्जंति, तं जहा, दिव्वा वा, माणुस्सा वा, तेरिच्छिया वा, ते सव्वे उवसग्गे समुप्पण्णे, समाणे सम्मं सहिस्सामि, खमिस्सामि, अहियासिस्सामि ॥ आचारांग० श्रुताध्ययन 2, अ० 23, पत्र 391
2. त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित, 10,3,17–26
3. आवश्यक चूर्णि 1, पृ. 270। सक्को पडियतो–सिद्धत्थठितो ॥ त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, 10. 3. 29–33

की साधना के प्रथम वर्ष में ही अस्थिग्राम के यक्षायतन में हुए यक्ष के उपसर्ग का निवारण क्यों नहीं किया ?

साधना के दूसरे वर्ष मोराक सन्निवेश में इसी सिद्धार्थ ने वर्धमान की यशोगाथा एक बड़े ज्योतिषी के रूप में फैला दी। फलतः वे सारी जनता के लोकप्रिय हो गए, परन्तु वहां रहने वाले अच्छन्दक ज्योतिषी की आजीविका पर कठोर आघात हुआ। यह जानकर वर्धमान ने वहां से विहार कर दिया। यह उनका महाकारुण्य था। भविष्यवाणी के और भी अनेक उदाहरण यहां मिलते हैं जिनका सम्बन्ध भी सिद्धार्थ से रहा है। अतः सिद्धार्थ नामक कोई अन्य देव नहीं बल्कि व्यक्ति होना चाहिए। हो सकता है, उसका नाम भी सिद्धार्थ देव रहा हो।

साधनाकाल के प्रथम तेरह मास तक कहा जाता है कि वर्धमान मात्र एक वस्त्र ग्रहण किये रहे। उसका कुछ भाग एक निर्धन ब्राह्मण की याचना पर उन्होंने उसे दे दिया और शेष भाग स्वतः गिर गया। इस वस्त्र को देवदूष्य वस्त्र कहा गया। आचारांग और कल्पसूत्र में देवदूष्य वस्त्र के गिरने की बात तो मिलती है पर ब्राह्मण को देने की घटना का वहां कोई उल्लेख नहीं मिलता। चूर्णि, टीका आदि में उसका उल्लेख अवश्य हुआ है।

देवदूष्य वस्त्र एक विवाद का विषय रहा है क्योंकि उसका सम्बन्ध सचेल और अचेल परम्परा से जोड़ दिया गया। जो भी हो, इतना अवश्य है, इस घटना का सम्बन्ध ब्राह्मण सम्प्रदाय की भिक्षावृत्ति को उद्घाटित करना तथा उसे महावीर से जीवनदान देने की अभ्यर्थना करना रहा होगा। साम्प्रदायिकता की भावना का सन्निवेश यहां दिखाई देता है। वैसे महावीर वीतरागी थे यह निर्विवाद है। अतः वस्त्र से उनका कोई प्रयोजन नहीं रहा होगा। इसे उत्तरकालीन विवाद समझना चाहिए। देवदूष्य शब्द का प्रयोग भी इस बात को स्पष्ट करता है। महावीर ने इस वस्त्र को लगभग 13 माह तक रखा और उनका साधना काल भी लगभग तेरह वर्ष रहा। संख्या की यह समानता भी इस सन्दर्भ में विचारणीय है।

उत्तर भारत की शीत और उष्णता, दोनों पूरे जोर पर रहती हैं। महावीर ने उन दोनों को भली-भांति सहा। कहा जाता है, साधना काल में महावीर कभी सोये नहीं? बारह वर्ष तक कोई सोये न यह सम्भव-सा नहीं लगता। सोने का तात्पर्य यदि प्रमाद से लिया जाय तो अवश्य हम कह सकते हैं कि महावीर पूर्णतः अप्रमादी रहे और अपनी साधना के लक्ष्य पर प्रतिपल जागृत रहकर ध्यान करते रहे। वैसे ऐसे न सोने वालों के कुछ उदाहरण आजकल अवश्य मिलते हैं।

बिहार, लगता है, प्राकृतिक आपदाओं का घर रहा है। वर्धमान की साधना-काल के प्रथम वर्ष में ही वहां अकाल पड़ा था। परिव्राजक मूक पशुओं को भी अपने आश्रम से बाहर कर दिया करते थे परन्तु कारुणिक वर्धमान ऐसा नहीं कर

सके। इसका दण्ड उन्हें यह मिला कि आश्रम से निकल आना पड़ा। उस समय की उनकी मानसिक स्थिति का अवलोकन कीजिए जो जैनधर्म किंवा मानवता का अभिन्न अंग है।[1]

चण्डकौशिक नाग को महावीर ने प्रतिबोध दिया, यह सही हो सकता है, उसके काटने पर महावीर को कोई असर न हुआ हो यह भी सही हो सकता है पर उसके डसने पर महावीर के पैर से रक्त के स्थान पर दूध की धारा बह निकले यह सही नहीं लगता। यह तो वस्तुतः उत्तरकालीन चमत्कार का नियोजन प्रतीत होता है।

साधना के दूसरे वर्ष में गोशालक की भेंट महावीर से हुई और वह छठवें-वर्ष तक महावीर के साथ मे रहा भी। इस बीच गोशालक की अनेक घटनाओं का उल्लेख है जिनमे उसके व्यक्तित्व को बिल्कुल नीचा और उपद्रवी दिखाया गया है। वस्तुतः गोशालक की श्रेष्ठता दिखाना स्वाभाविक है। बौद्धागमो ने भी ऐसा ही किया है।

कठपूतना और शालार्य व्यन्तरियां तथा सगमदेव के घनघोर उपसर्गों को साधक महावीर ने शान्ति पूर्वक सहन किया। अन्तिम उपसर्ग छम्माणि ग्राम मे हुआ जहां ग्वाले ने उनके कानो में कीले ठोके। इससे भी कही अधिक दुःखदायक उपसर्ग उस समय हुआ जबकि सिद्धार्थ नामक वणिक ने अपने मित्र खरक नामक वैद्य से उन कीलों को निकलवाया।

पालि साहित्य के मज्झिम निकाय (चूल दुक्खक्खन्ध-सुत्त) तथा संयुत्तनिकाय (सखसुत्त) मे भी वर्धमान की तपो साधना का वर्णन है। परन्तु वहां निगण्ठ नात-पुत्त न होकर 'निग्गण्ठा' लिखा हुआ है जिसका साधा सादा अर्थ है जैन मुनि। अभयराज कुमार, असिबन्धकपुत्त गामणी, उपालि आदि श्रावकों के चर्चा-प्रसगों में भी वर्धमान के स्वय के तप का रूप स्पष्ट नही होता बल्कि उनके सिद्धान्तों पर किञ्चित् प्रकाश पड़ता है। ये सभी उल्लेख उस समय के होंगे जबकि भगवान महावीर केवलज्ञान प्राप्त कर चुके थे और उन्होने अपने धर्म का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया था।

भगवान् महावीर की देशना को दिव्यध्वनि कहा गया है। इस दिव्यध्वनि

---

1. इमेण तेण पंच अभिग्गहा गहिया (आ. मलय नि. पत्र 268 (1)।
   इमेय तेण पंच अभिग्गहा वाहिता (आवश्यक चू. पृ. 271)
   नाप्रीतिमद् गृहे वास· स्थेयं प्रति मया सह।
   न गेहि विनयं कार्यो, मौनं पाणौ च भोजनम्॥ (कल्पसूत्र, सुबोधा—पृ. 288)।

को सर्वभाषात्मक माना है। आचार्य वीरसेन ने लिखा है कि एक योजन के भीतर दूर अथवा समीप बैठे हुए अठारह महाभाषा और सात सौ लघुभाषाओं से युक्त तिर्यञ्च, मनुष्य और देवों की भाषा के रूप में परिणत होने वाली तथा न्यूनता और अधिकता से रहित, मधुर, मनोहर, गम्भीर और विशद् भाषा के अतिशयों से युक्त तीर्थंकर की दिव्यध्वनि होती है।[1] जिनसेन ने इसे अशेष-भाषात्मक कहा है।[2] कोई ध्वनि अथवा भाषा सर्व भाषात्मक अथवा अशेष भाषात्मक रहे, यह कोरी कल्पना की बात है। तीर्थंकर की प्रशान्त मूर्ति और प्रभावक व्यक्तित्व को देखकर वस्तुतः श्रोता या दर्शक आकर्षित हो जाते थे। परन्तु उनकी ध्वनि इतनी भाषाओं से युक्त हो और वह मनुष्य तथा देवों की भाषा के रूप में परिणत हो, यह कैसे सम्भव है। उस समय अठारह महाभाषायें तथा सात सौ लघु भाषायें भी तो नहीं थीं। तब इसे कैसे सत्य माना जाय ?

इस प्रकार भगवान् महावीर की साधना के सन्दर्भ में जो कुछ भी मिलता है वह केवल जैन साहित्य में है और ऐसा जो जैन साहित्य है वह प्रायः उत्तरकालीन है। उनमें भक्ति के कारण चमत्कारिक वृत्ति का आधिक्य हो जाने से मूल रूप प्रच्छन्न हो गया है। अतः महावीर की तत्कालीन घटनाओं का सम्यक् विश्लेषण आवश्यक हो जाता है। मैंने यहां उन घटनाओं का कुछ विश्लेषण किया है। सम्भव है उसमें मतभेद हो। इसलिए इस विषय में और चिन्तन अपेक्षित है।

2. जैन साहित्य परम्परा

साहित्य संस्कृति और समाज का दर्पण है। समाज की परम्परा, समृद्धि, विकास-रूपरेखा, दृष्टि, मान्यता आदि सारे तत्त्व साहित्य की विशाल परिधि के अन्तर्गत प्रतिबिम्बित होते रहे हैं। व्यष्टि और समष्टि के बीच प्रतिद्वन्द्विता, सहयोग, सह-अस्तित्व, सद्भावना, संघर्ष आदि सब कुछ साहित्य की आँखों से बच नहीं पाते। इसलिए संस्कृति और समाज के सन्दर्भ में साहित्य को मेरुदण्ड माना जा सकता है।

---

1. 'यो अवान्तरदूरसमीपस्थाष्टादशभाषा——सप्तशतकुभाषा——तिर्यग्देव——मनुष्य भाषाकारन्यूनाधिक–भाषातीतमधुरमनोहरगम्भीरविशदवागतिशय—सम्पन्नः भवन वासिवानव्यन्तर–ज्योतिष्क–कल्पवासीन्द्र–विद्याधर–चक्रवर्ति–बल नारायण–राजाधिराज–महाराजार्ध– महामण्डलीकेन्द्राग्नि–वायु–भूति–सिंह–व्यालादि–देव—विद्याधर मनुष्यर्षि–तिर्यगिन्द्रेभ्यः प्राप्त–पूजातिशयो महावीरोऽर्थकर्ता।' (षट्खण्डागम, धवलाटीका, प्रथम जिल्द, पृ. 61)
2. आदिपुराण, 23, 154

प्रत्येक दर्शन और संस्कृति की मूल रूप में एक भाषा रहती है जिसके माध्यम से उसकी बाह्य अभिव्यक्ति की जाती है। जैन संस्कृति के प्रणेताओं ने इस अभिव्यक्ति का माध्यम जनभाषा को चुना। उन्होंने ऐसी भाषा को माध्यम बनाया जो उनके विचारों को जनसाधारण तथा निर्धन और अशिक्षित परिवारों तक बिना किसी संकोच और रुकावट के पहुंच सके। ऐसी भाषा संस्कृत हो नहीं सकती थी क्योंकि वह तो उच्चकुलीन भाषा थी। इसलिए जन साधारण में प्रचलित बोली को ही उन्होंने स्वीकार किया। इसी को प्राकृत कहा जाता है। प्रादेशिक बोलियों के बीच जो स्वाभाविक अन्तर दिखा उसने प्राकृत को प्रादेशिक स्तर पर विभक्त कर दिया। कालान्तर में इसी के विकसित रूप को अपभ्रंश कहा जाने लगा जिसका रूप अवहट्ट के दरवाजे से निकलकर आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास प्रांगण तक पहुंचा। उधर संस्कृत भाषा समृद्ध और सुशिक्षित समुदाय तक ही सीमित रही। भारतीय भाषा विज्ञान के महापिता पाणिनि ने उसे सूत्र-जालों में ऐसा जकड़ दिया कि वह उनसे कभी उभर नहीं सकी। इसलिए उसमें कोई विशेष विकास भी नहीं हो सका।

जैनधर्म जन समाज का धर्म रहा है। वह किसी जाति अथवा सम्प्रदाय विशेष से सम्बद्ध न होकर प्राणि मात्र से जुड़ा रहा। इसलिए उसने एक ओर जहां प्राकृत जैसी जनभाषा को स्वीकार किया वहीं उसे संस्कृत को भी अपनाना पड़ा। फलतः जैनाचार्यों ने प्राकृत-अपभ्रंश और संस्कृत को पूरे मन से अपने विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। बाद में हिन्दी, मराठी, गुजराती, तमिल, कन्नड़ आदि प्रादेशिक भाषाओं को भी उसी रूप में अपनाया। इन सभी भाषाओं का आद्य साहित्य प्रायः जैनाचार्यों से प्रारम्भ होता है। उत्तरकाल में भी उन्होंने उसे भरपूर समृद्ध किया। इस तथ्य को हम आगामी पृष्ठों में देख सकेंगे।

1. प्राकृत साहित्य

जैन साहित्य की परम्परा का प्रारम्भ श्रुति परम्परा से होता है। तीर्थंकर महावीर के पूर्व का साहित्य तो उपलब्ध होता ही नहीं है। जो कुछ उल्लेख मिलते हैं उनके अनुसार उसे 'पूर्व' श्रेणी के अन्तर्गत अवश्य रखा जा सकता है। उनकी पूर्वों की संख्या चौदह है जिनका विवरण तत्त्वार्थवार्तिक, नन्दिसूत्र आदि ग्रन्थोंमें। इस प्रकार मिलता है।

1. उत्पाद पूर्व—इसमें द्रव्य और पर्यायों की उत्पत्ति का विवेचन है। इसमें वस्तु दस, दो सौ प्राभृत और 12 करोड़ पद हैं।

2. अग्रायणी पूर्व—इसमें वस्तु तत्त्व का प्रधानतः प्रतिपादन रहा होगा।

सात सौ सुनय-दुर्नयों का तथा पांच अस्तिकाय, सप्त तत्त्व और नौ पदार्थों का परिमाण सहित विवरण होता। इसमें 14 वस्तु, 280 प्राभृत और छियानवे लाख पद होते हैं।

3. वीर्यानुप्रवाद—इसमें अकर्म और सकर्म जीवों के वीर्य का वर्णन है। केवली, सुरेन्द्र, नरेन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव आदि के वीर्य का, आत्म-वीर्य, परवीर्य, क्षेत्रवीर्य, कालवीर्य, भववीर्य आदि वीर्य का भी यहां विवरण किया है। इसमें 8 वस्तु, 160 पाहुड़, और 70 लाख पद हैं।

4. अस्ति-नास्ति प्रवाद—इसमें स्वरूप आदि चतुष्टय की अपेक्षा द्रव्य के अस्तित्व का और पररूपादि चतुष्टय की अपेक्षा उसके नास्तित्व का वर्णन है। इसमें 18 वस्तु, 360 पाहुड़ और एक कम एक करोड़ पद है।

5. ज्ञान प्रवाद—यहां मति, श्रुत आदि पांचों ज्ञानों की उत्पत्ति, स्वरूप, प्रकार, विषय आदि का विवेचन है। इसमें 12 वस्तु, 240 पाहुड़, और एक करोड़ छः पद हैं।

6. सत् प्रवाद—द्रव्य के संदर्भ में विवचेन है।

7. आत्मप्रवाद—आत्मा के अस्तित्व, नास्तित्व आदि धर्मों का, उसके भोक्तृत्व, कर्तृत्व आदि स्वरूप का विस्तृत वर्णन है। इसमें 16 वस्तु, 320 पाहुड़, और 26 करोड़ पद होते हैं।

8. कर्म प्रवाद—कर्मों के स्वरूप, बन्ध, उदय, व्युच्छित्ति आदि पर प्रकाश डालता है। इसमें 20 वस्तु, 400 पाहुड़ और एक करोड़ अस्सी लाख पद होते हैं।

9. प्रत्याख्यान प्रवाद—व्रत, आचार, प्रतिक्रमण, प्रतिमा, आराधना, विराधना, समिति, गुप्ति आदि का वर्णन है। इसमें 30 वस्तु, 600 पाहुड़, और 84 लाख पद होते हैं।

10. विद्यानु प्रवाद—विद्याओं, निमित्तों, स्वप्नों, ऋद्धि-सिद्धियों आदि का वर्णन है। इसमें 15 वस्तु, 300 पाहुड़, और एक करोड़ 10 लाख पद होते हैं।

11. कल्याण प्रवाद—सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, तारा गण आदि की उत्पत्ति, गमन, शकुन, शुभ, अशुभ आदि का वर्णन है। इसमें 10 वस्तु, 2 पाहुड़ और 26 करोड़ पद होते हैं।

12. प्राणवाद प्रवाद-इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, आयुष्य और प्राण का निरूपण है। इसमें 10 वस्तु, 20 पाहुड़ और 13 करोड़ किंवा 12 करोड़ छप्पन लाख पद हैं।

13. क्रियाविशाल—शुभाशुभ क्रियाओं का, बहत्तर कलाओं का काव्य के गुण-दोषों का, नृत्य-गीत आदि शास्त्रों का वर्णन है। इसमें 10 वस्तु 200 पाहुड़, और 9 करोड़ पद हैं।

14. लोक बिन्दुसार—परिकर्म, व्यवहार, रज्जुराशि, कलासवर्ण आदि। इसमें 10 वस्तु, 200 पाहुड़, और साढ़े बारह करोड़ पद हैं।

कुल मिलाकर चौदह पूर्वों में 195 वस्तु और 3900 पाहुड़ होते हैं। पद के प्रमाण के संदर्भ में कोई निश्चित जानकारी नहीं मिलती। हां, षट्खण्डागम के कुछ सूत्र इस गुत्थी को हल करने का प्रयत्न अवश्य करते हैं पर उन्हें अंतिम नहीं माना जा सकता। इन पूर्वों में स्वसमय और परसमय का सुन्दर विवेचन रहा है। दर्शन, ज्योतिष, भूगोल, गणित, आयुर्वेद आदि शाखाओं को भी इसमें समाहित किया गया है। परन्तु इतने विशाल परिमाण वाला 'पूर्व' साहित्य आज न जाने क्यों उपलब्ध नहीं है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पूर्व साहित्य की भाषा परम्परा से संस्कृत मानी जाती है। पर मुझे लगता है वह प्राकृत में रहा होगा।

व्यवहार सूत्र के अनुसार इस पूर्व साहित्य से अंग साहित्य की उत्पत्ति हुई है। धवला में 'इसे' श्रुत—देवता' की संज्ञा दी गई है और उसके बारह अंगों के समान 'अंग' के भी बारह भेदों का वर्णन किया गया है आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तःकृद्दश, अनुत्तरोपपादिक दश, प्रश्न-व्याकरण, विपाक सूत्र और दृष्टिवाद, दोनों परम्पराओं मे इनके नामो मे कोई अन्तर नहीं है।

परम्परागत होने के कारण अंग साहित्य को अनुयोग में 'आगम' की संज्ञा दी गयी है। तीर्थंकरों द्वारा ज्ञान अर्थ को आत्मागम, गणधरों, द्वारा रचित सूत्रों को सूत्रागम और गणधरों के शिष्यो द्वारा रचित सूत्र अनन्तरागम हैं। परम्परागत होने के कारण यह सब परम्परागत है। इसे सिद्धान्त भी कहा जाता है। बौद्ध पिटकों की तरह जैन सिद्धान्त साहित्य को 'गणि पिटक' भी कहा गया है। तीर्थंकरों द्वारा प्रणीत उपदेश को गणधर व्याख्यायित करते हैं जिसके आधार पर उनके शिष्य ग्रन्थ-रचना करते हैं।

शांतिचन्द्र की जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति की टीका में कुछ प्राचीन गाथाएं उद्धृत हैं जिनमें डॉ. वेबर ने केवल छ. अगों का ही उल्लेख पाया है-आचारांग, स्थान, समवाय व्याख्याप्रज्ञप्ति और दृष्टिवाद। आवश्यकनिर्युक्ति आदि में इन ग्यारह अंगों का निर्देश आचारांग आदि से प्रारम्भ किया गया है। लगता है, अंगों की गणना के संदर्भ में ये दो परम्पराएं रही होंगी।

सपूर्ण श्रुतज्ञान को दो भागो में विभाजित किया गया है—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। अंगप्रविष्ट द्वादशांग रचना है और उस पर आधारित ग्रन्थ समुदाय अंगबाह्य माना जाता है। अगबाह्य के आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त ये दो भेद आवश्यक निर्युक्ति, विशेषावश्यक भाष्य आदि ग्रन्थों में मिलते हैं। सामायिक

के अनुसार पर्यन्त छः भेद आवश्यक के हैं। यहां अंग प्रविष्ट और अंगबाह्य दोनों प्रकार के ग्रन्थों को श्रुत कहा गया है। [illegible], अर्थ [illegible] आदि ग्रन्थ भी इसे स्वीकार करते हैं।

विशेषावश्यक भाष्य में श्रुतज्ञान के चौदह भेद निर्दिष्ट हैं—अक्षर, अनक्षर, संज्ञि, असंज्ञि, सम्यक्, मिथ्या, सादि, अनादि, पर्यवसित, अपर्यवसित, गमिक, अगमिक, अंगप्रविष्ट व अनंगप्रविष्ट। ये भेद शैली के आधार पर हो सकते हैं। नंदिसूत्र, विशेषावश्यक भाष्य, षट्खण्डागम आदि ग्रन्थों में इसका विस्तृत वर्णन मिलता है।

इन भेदों में गमिक और अगमिक भेद विशेष दृष्टव्य हैं। जिनमें भंग, गणित अथवा सदृशपाठ अधिक हैं उन्हें गमिक कहते हैं और जिनमें गाथा, श्लोक आदि असदृश पाठ अधिक हैं उन्हे अगमिक कहा जाता है। दृष्टिवाद को गमिक की संज्ञा दी गई है और अंगबाह्य ग्रन्थ अगमिक अर्थात् कालिक श्रुत के नाम से जाने जाते हैं।

नन्दिसूत्र में अंग बाह्य के दो भेद हैं—आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त। आवश्यक के छः भेद हैं- सामायिक चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्याना आवश्यक व्यतिरिक्त के दो भेद हैं—कालिक और उत्कालिक। कालिक में निम्न ग्रन्थ आते हैं—उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, कल्प. व्यवहार, निशीथ महानिशीथ, ऋषि भाषित, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, क्षुल्लिका, विमान, निरयावली, कल्पावतंसिका आदि। उत्कालिक के भी अनेक भेद हैं—दशवैकालिक, कल्पाकल्प, औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, अनुयोग द्वार, सूर्यप्रज्ञप्ति, वीतराग श्रुत आदि। ठाणांग, अनुयोगद्वार, तत्त्वार्थ वार्तिक आदि ग्रन्थों में भी इसी प्रकार के भेद-प्रभेद मिलते हैं। यहां यह दृष्टव्य है कि कालिक श्रुत में दृष्टिवाद अन्तर्भूत नहीं है। दृष्टिवाद तो अंगप्रविष्ट के अन्तर्गत आता है।

भद्रबाहु से स्थूलभद्र ने दश पूर्वों का अध्ययन किया। शनैः शनैः कालक्रम से दस पूर्वों का भी लोप हो गया। श्वेताम्बर परम्परा दश पूर्वों का विच्छेद महावीर के निर्वाण के 162 वर्ष बाद मानती है जबकि दिगम्बर परम्परा इस घटना को 345 वर्ष बाद हुआ स्वीकार करती है। दश पूर्वों के विच्छेद होने के बाद विशेष पाठियों का भी विच्छेद हो गया। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार [illegible] के ज्ञाता आर्यरक्षित ने विशेष पाठियों का ह्रास देखकर उसे चार [illegible] जित कर दिया। फिर भी पूर्वों का लोप बचाया नहीं जा सका। [illegible] इस लोप को महावीर-निर्वाण के 683 वर्ष बाद हुई घटना मानती है।

जैन साहित्य को वाचनाओं के माध्यम से सुस्थिर रखने का प्रयत्न होता रहा है। प्रथम वाचना महावीर-निर्वाण के 160 वर्ष बाद पाटलिपुत्र में चन्द्रगुप्त मौर्य ने कराई। इसके बाद दो दुर्भिक्षों का आघात लगा। तदनन्तर आर्य स्कन्दिल के नेतृत्व में मथुरा में वाचना हुई और इसी तरह नागार्जुन के नेतृत्व में एक अन्य वाचना बलभी में हुई। इन वाचनाओं के लगभग 150 वर्ष बाद (ई. 456 या 467) देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व मे बलभी मे पुनः वाचना का संयोजन किया गया और उपलब्ध आगम को वाचना, पृच्छना आदि के माध्यम से लिपिबद्ध कर स्थिर करने का प्रयत्न हुआ। श्वेताम्बर परम्परा द्वारा स्वीकृत आगम इसी वाचना के परिणाम हैं। इतने लम्बे काल में श्रुति परम्परा का विच्छेद, मूल पाठों में भेद, पुनरुक्ति से बचने के लिये 'जाव यहा पण्णवणाये' जैसे शब्दो का प्रयोग विषय-प्रस्तुति मे परस्पर विसगति, जोड़-घटाव आदि की प्रवृत्ति अंग ग्रंथों मे, दिखाई देती है। इसलिए स्वर्गीय प. बेचरदास दोषी का यह कथन सही लगता है कि बलभी में सग्रहीत अंग साहित्य की स्थिति के साथ भगवान महावीर के समय के अंग साहित्य की तुलना करने वाले को दो सौतेले भाईयो के बीच जितना अंतर होता है उतना भेद मालूम होना सर्वथा संभव है।[2] इतना ही नही, देवर्धिगणी के बाद भी यह परिवर्तन रोका नहीं जा सका। जेकोबी ने तो यहा तक कह दिया कि साक्षात् देवर्धिगणी के यहा भी पुस्तकारूढ किया गया पाठ आज मिलना अशक्य है। यह इसलिए भी सभव है कि भगवती-आराधना आदि ग्रंथो मे उपलब्ध आगमो से उद्धृत उल्लेख वर्तमान में प्राप्त आगमो में नही मिलते। अट्ठे पण्णत्तेया मे सुयग, सुय मे आहुस तेण भगवया एवमत्थं जैसे शब्द भी इसके प्रमाण हैं।

अंग साहित्य का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

1. आचारांग

आचारांग द्वादशांग का प्रथम और आद्य ग्रन्थ है। इसमें श्रमणाचार की व्यवस्था और उसकी मीमांसा की गई है। आचारांग की महत्ता इसी से आंकी जा सकती है कि इसके अध्ययन के उपरात ही सूत्रकृतांग आदि का अध्ययन किया जा सकता है।[3] और भिक्षु भी उसके बाद ही भिक्षाग्रहण के योग्य माना जा सकता है।[4]

---

1. बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा बंधणं परिजाणिया।
   किमाह बंधणं वीरो किंवा जाणं तिउट्टई।।
   सूत्र कृतांग नियुंक्ति, गाथा-18-19
2. जैन साहित्य में विकास, 33
3. निशीथ चूर्णि, भाग 4. पृ. 252;
4. व्यवहार भाष्य, 3. 174-5,

तत्त्वार्थ वार्तिक के अनुसार आचारांग में आठ शुद्धि, तीन गुप्ति, पांच समिति रूप चर्या का वर्णन है। इसी तरह षट्खण्डागम भी आचारांग के विषय को मुनि चर्या, तक ही सीमित रखता है। नंदीसूत्र और समवायांग भी लगभग इस कथन से सहमत है। वस्तुत: इसमें आचार और गोचर विधि का निरूपण और साधना पद्धति का प्ररूपण किया गया है।

वर्तमान में उपलब्ध आचारांग में दो श्रुत स्कन्ध हैं। प्रथम श्रुत स्कन्ध का नाम 'बम्हचेरिय' है जिसके नव अध्ययन और उनके 51 उद्देशक हैं—1. सत्थ परिण्णा (शस्त्र परिज्ञा), 2. लोग-विजय (लोकविजय), 3. सीओसणिज्ज (शीतोष्णीय, 4. सम्मत्त (सम्यक्त्व), 5 आवंति अथवा'लोगसार, 6. धुयं (धूतं), 7, विमोह (विमोक्ष), 8. उवहाणसुय (उपधानश्रुत), और 9. महापरिण्णा (महापरिज्ञा)। आचारांग निर्युक्ति में छठे अध्ययन धूत के बाद महापरिज्ञा का नाम आया है और उसे लुप्त माना गया है।

आचारांग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध प्रथम श्रुतस्कन्ध का परिशिष्ट है जो पांच चूलिकाओ में विभक्त है। प्रथम चूलिका में, पिंडैषणा, शय्यैषणा, ईर्यैषणा, भाषाजातैषणा, वस्त्रैषणा, पात्रैषणा और अवग्रहैषणा का वर्णन है। द्वितीय चूलिका में स्थान, निशीथिका आदि सात अध्ययन हैं। तृतीय भावना चूलिका में भ. महावीर का चरित्र चित्रण है। चतुर्थ चूलिका विमुक्ति है जिसमें आरम्भ और परिग्रह से मुक्त होने की बात कही गई है। पांचवीं चूलिका वृहदाकार होने से पृथक् कर दी गई है जिसे निशीथ सूत्र कहा जाता है।

इस प्रकार आचारांग के दोनों श्रुतस्कन्धों में 25 अध्ययन और 85 उद्देशक हैं। महापरिज्ञा को लुप्त मानने पर कुल 24 अध्ययन और 78 उद्देशक बच जाते हैं। आचारांग की पद संख्या 1-00 मानी गई है। इस अंग का कुछ भाग गद्य में है और कुछ पद्य मे। डॉ जैकोबी और शुब्रिंग ने इसके छन्दों की मीमांसा करते हुए प्राचीनतम अंग माना है। भाषा और शैली भी इस तथ्य को पुष्ट करती है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध उत्तरकालीन है जो स्थविरकृत है। इस ग्रंथ की दो वाचनाएं पाठ भेद के रूप मे उपलब्ध हैं—प्रथम वाचना शीलांक की वृत्ति में स्वीकृत पाठक्रम और द्वितीय नागार्जुनीय। वाचना रूप देवर्धिगणि क्षमाश्रमण ने इसे 'वण्णओ' और 'जाव' शब्दों का उपयोग कर संकलित किया है।

विषय की दृष्टि से आचारांग समृद्ध है। अचेलक और सचेलक दोनों परम्पराएं इसमें समाहित हैं। यहां अचेलकता और वीतरागता को अधिक श्रेयस्कर माना गया है। जैन धर्म की प्राचीनतम साधना पद्धति की जानकारी के लिए आचारांग प्रमुख अंग ग्रन्थ है। महावीर की जीवन पद्धति का भी इसमें अच्छा चित्रण मिलता है। मांस भक्षण जैसे कुछ विषय हमारे समक्ष प्रश्न चिन्ह अवश्य खड़ा कर देते हैं।

पर ऐसे विषय निश्चित ही काफी उत्तर कालीन रहे होंगे। क्योंकि जैन धर्म की मूल भावना से इसका कोई मेल नहीं खाता। ऐसे पाठ प्रक्षिप्त ही होना चाहिए।

2. सूयगडंग

सूत्रकृताङ्ग (सूयगडाङ्ग) प्राकृत जैन आगम का द्वितीय अंग ग्रन्थ है जिसे सुद्दयड, सूदयड, सूदयद, सूतगड, सूयगड और सुत्तगड जैसे अभिधान प्राकृत में उपलब्ध होते हैं। परन्तु संस्कृत में यह आगम ग्रन्थ सूत्रकृत नाम से ही अधिक प्रसिद्ध है। सुय, सूद अथवा सुत्त शब्द पालि के सुत्त शब्द से मिलता जुलता लगता है जिसे हम श्रुत, सूक्त अथवा सूत्र अर्थ में व्याख्यायित कर सकते हैं। चूंकि जैन और बौद्ध आगमों की प्रारंभिक परम्परा श्रुति परम्परा रही है और जहाँ कहीं सूत्र शैली का भी प्रयोग हुआ है। इसलिए सूयगडाङ्ग का सूय शब्द उपर्युक्त अर्थों में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है।

सूत्रकृताङ्ग विषय सामग्री की दृष्टि से एक आकर ग्रन्थ है। समवायाङ्ग के अनुसार इसमें स्वसमय, परसमय और नव पदार्थों का वर्णन है।[1] नंदीसूत्र के अनुसार इसमे लोक, अलोक, लोकालोक, जीव, अजीव, स्वसमय और परसमय का निरूपण है। तथा क्रियावादी आदि 363 मिथ्यादृष्टियों के मतो का खंडन किया गया है। यह दो श्रुत स्कन्धो, 23 अध्ययनो, 33 उद्देशन कालो और 36 समुद्देशन कालों में विभक्त है।[2] इसका कुल पद परिमाण 36 हजार है। राजवार्तिक के अनुसार इसमें ज्ञान, विनय, कल्प तथा अकल्प छेदोपस्थापना, व्यवहार धर्म एवं क्रियाओ का वर्णन है। कषाय पाहुड में भी लगभग इसी तरह की विषय सामग्री का उल्लेख है। जय धवला में इन विषयों के साथ ही स्त्रीपरिणाम की भी चर्चा का उल्लेख मिलता है।

इन सभी ग्रन्थों में सूत्रकृताङ्ग की उल्लिखित विषय सामग्री को एकत्रित किया जाय तो वर्तमान सूत्रकृताङ्ग का स्वरूप उपस्थित हो जाता है इसमें 32 अध्ययन हैं।[3]

1. समय, 2. वैतालीय, 3. उपसर्ग, 4. स्त्री परिणाम, 5. नरक, 7. वीर स्तुति, 7. कुशीलपरिभाषा, 8. वीर्य, 9. धर्म, 10. अग्र, 11. मार्ग, 12. समवसरण,

---

1. सूयगडेणं ससमया सूइज्जंति परसमया सूइज्जंति समय परसमया सूइज्जंति समवाओ-पउण्णउइ समवाओ, सू. 90.
2. नन्दीसूत्र, सूत्र-82.
3. प्रतिक्रमण संग्रयी, प्रभाचंद्रीय वृत्ति

13. त्रिकालग्रंथ हिद (?) 14. आत्मा 15. तथित्थगाथा (?), 16. पुण्डरीक, 17. क्रिया स्थान, 18. आहारक परिणाम 19. प्रत्याख्यान, 20 अनगार गुणकीर्ति, 21. श्रुत, 22. अर्थ, 23. नालन्दा। इन अध्ययनों में कुछ ऐसी सामग्री अवश्य दिखाई नहीं देती जिसका उल्लेख उपर्युक्त ग्रंथों में न किया गया हो। वर्तमान में उपलब्ध प्रस्तुत ग्रथ में कुछ परिवर्तन के साथ ये अध्ययन संकलित किये गये हैं।

सूत्रकृताङ्ग के संकलन के सन्दर्भ में किसी व्यक्ति-विशेष के नाम का उल्लेख तो यहां नहीं मिलता पर इतना निश्चित है कि उसका संकलन परम्परा का अनु-सरण कर स्थविरों ने प्रश्नोत्तर शैली का आश्रय लेकर लगभग 5 वीं शती में किया है।[1]

सूत्रकृतांग भी दो श्रुत स्कन्धों में विभाजित है। प्रथम श्रुत स्कन्ध में सोलह अध्ययन हैं–समय, वैतालिक, उपसर्ग, स्त्रीपरिज्ञा, नरक, विभक्ति, वीरस्तुति, कुशील, वीर्य, धर्म, समाधि, मार्ग, समवशरण, याथातथ्य, ग्रंथ, यमकीय अथवा आदानीय, और गाथा। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सात अध्ययन हैं–पुंडरीक, क्रिया स्थान, आहार-परिज्ञा, प्रत्याख्यान क्रिया, अनगारश्रुत, आर्द्रकीय, और नालन्दीय। इन अध्ययनों मे जैनेतर दर्शनों की आचार-विचार की मासांसा करते हुए जैनाचार विचार को प्रस्थापित किया गया है।

3. ठाणांग

यह तृतीय अंग है। इसमे संख्याक्रम से तत्त्व पर विचार किया गया है। इसमें दस स्थान और इक्कीस उद्देश्य हैं। 783 गद्य सूत्र और 169 पद्य सूत्र हैं। विषय सामग्री के देखने से यह स्पष्ट आभास होता है कि इसकी रचना काफी बाद में हुई है। उदाहरण तौर पर सप्तनिन्हवों में दिगम्बर सम्प्रदाय का कोई उल्लेख नहीं। इसी तरह महावीर निर्वाण के लगभग 500 वर्ष बाद जिन गणों की उत्पत्ति हुई उसका भी इसमें उल्लेख है। दस दशा ग्रंथों का तथा उपांगों का भी उल्लेख इसी प्रकार का है। इन सबके बावजूद यह ग्रंथ स्व-पर समय की अच्छी जानकारी प्रस्तुत करता है।

4. समवायांग

ठाणांग की शैली पर ही समवायांग लिखा गया है। तात्वार्थवार्तिक और षट्खण्डागम के अनुसार इसमें सब पदार्थों के समवाय का विचार किया गया है। नन्दिसूत्र के अनुसार इसमें एक से लेकर सौ तक की संख्या वाले पदार्थों का अन्तर्भाव है। यह ग्रंथ भी उत्तरकालीन है। इसमें देवर्धिगणि के संकलन के बाद भी कुछ

---

1. बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा बंधणं परिजाणिया।
   किमाह बंधणं वीरो, किंवा जाणं तिउट्टई॥ सू. निर्युक्ति, गाथा-18-19.

[illegible] गया है । नन्दिसूत्र, उत्तराध्ययन,] आदि के उल्लेख तथा ग्रंथों का विस्तृत परिमाण इसे उत्तरकालीन ग्रंथ सिद्ध करता है । प्राचीन और अर्वाचीन दोनों तरह के विषयों का समावेश यहां हो गया है ।

5. वियाह पण्णत्ति :

तत्त्वार्थवार्तिक और षट्खण्डागम के अनुसार इसमें साठ हजार प्रश्नों का व्याकरण-समाधान किया गया है । समवायांग में यह संख्या 36000 दी गई है विषय की दृष्टि से विशाल होने के कारण इसे 'भगवती' भी कहा जाता है इसमे 101 अध्ययन 10 हजार उद्देशनकाल, 10 हजार समुद्देशन काल, 36 हजार प्रश्न और उनके उत्तर, 288000 पद और संख्यात अक्षर हैं । वर्तमान में इसके 138 शतक और 1925 उद्देशक उपलब्ध हैं । इसका परिमाण 15750 श्लोक प्रमाण है । इसमें भी परिवर्तन-परिवर्धन हुआ है यहां रायपसेणीय, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति आदि जैसे उत्तरकालीन ग्रंथो से उद्धरण दिये गये हैं बीस के बाद के शतको को उत्तरकालीन माना जाता है । वनस्पति शास्त्र आदि की दृष्टि से भी यह ग्रथ अधिक उपयोगी है ।

6. णायाधम्मकहाओ

जय धवला में इसे 'णाहधम्मकहा 'और अभयदेव सूरि ने इसे 'ज्ञाता धर्म कथा' कहा है । श्वेताम्बर साहित्य में महावीर के वश का नाम ज्ञातृ निर्दिष्ट है जबकि दिगम्बर साहित्य में उन्हें 'नाथवंशीय' बताया है । जो भी हो, इस ग्रन्थ में धर्म कथाएं प्रस्तुत की गई हैं चाहे वे महावीर की हों अथवा महावीर के लिए हों । इसमें दो श्रुत स्कन्ध हैं—प्रथम श्रुत स्कन्ध में 19 अध्ययन हैं और दूसरे श्रुत स्कन्ध मे 10 वर्ग हैं । दोनों श्रुतस्कन्धों के 21 उद्देशन काल हैं, 29 समुद्देशन काल हैं और 57600 पद हैं । इसमें मेघकुमार, धन्नासार्थवाह, थावच्चापुत्र, सार्थवाह की पुत्रवधुओं, मल्ली भगवती, जिनपाल. तेतलीपुत्र आदि की कथाओ का वर्णन है जिनके अध्ययन से जीवन के विविध पक्ष उद्घाटित किये गये हैं । सामाजिक इतिहास की दृष्टि से यह एक उपयोगी ग्रन्थ है ।

अन्य अंग ग्रन्थ

उपासक दशांग में दस श्रावकों का चरित्र वर्णन है—आनन्द, कामदेव, चुलणीपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, कुण्डकोलिक, सकडालपुत्र, महाशतक, नंदिनीपिता, और सालतियापिता । अन्तकृद्दशा सूत्र में नीम, मातंग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमलीक, आदि दस अन्तकृत केवलियों का वर्णन है । प्रश्न व्याकरणांग में प्राचीन रूप और अर्वाचीन रूप दोनों सुरक्षित हैं । विपाकश्रुत के दश प्रकरणों में आयुर्वेद, इतिहास, भूगोल, [illegible] आदि सामग्री को एकत्रित किया गया है ।

दृष्टिवाद बारहवां अंग है। यह एक विशाल कायिक ग्रन्थ था जो लुप्त हो गया है। तत्वार्थ वार्तिक और नन्दिसूत्र के अनुसार इसके पांच भेद हैं—परिकर्म, सूत्र, अनुयोग, पूर्वगत और चूलिका। पूर्वों के चौदह भेद हैं जिनका पीछे उल्लेख किया जा चुका है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार पूर्वों का देशज्ञान आचार्य की धा और धरसेन से पुष्पदन्त व भूतबलि ने पाया जिन्होंने षट्खण्डागम की रचना की। पर श्वेताम्बर परम्परा में महावीर के निर्वाण के एक हजार वर्ष बाद पूर्वों का पूर्णतः लोप मान लिया गया है।

शेष आगम अंग बाह्य है जो स्थविर कृत हैं। अंग बाह्य के दो भेद हैं—आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त। आवश्यक 6 है—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। आवश्यक व्यतिरिक्त कालिक और उत्कालिक के भेद से दो है। उत्तराध्ययन, निशीथ आदि कालिक के अन्तर्गत हैं और दशवैकालिक, प्रज्ञापना आदि उत्कालिक मे आते हैं।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संप्रदाय उपलब्ध आगमों में कुछ नियुंक्तियों को जोड़ कर 45 अथवा 84 आगम मानता है। 45 आगमों की सूची इस प्रकार है—

अंग 11— आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती), ज्ञातृ धर्मकथा, उपासक दशा, अन्तकृत, दशा, अनुत्तरोपपातिक दशा, प्रश्न व्याकरण और विपाक।

उपांग 12— औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, निरयावलिया, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा।

मूलसूत्र 6— आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नन्दी, अनुयोग द्वार, पिण्डनियुंक्ति, ओघनियुंक्ति

छेद सूत्र 6— निशीथ, महानिशीथ, बृहत्कल्प, व्यवहार दशा, श्रुतस्कन्ध, पचकल्प

प्रकीर्णक 10— आतुर प्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा, तन्दुल वैचारिक, चन्द्रवेध्यक, देवेन्द्रस्तव, गणिविद्या, महाप्रत्याख्यान, चतुःशरण, वीरस्तव, संस्तारक

84 आगमों की संख्या पूर्वोक्त 45 आगमों के अतिरिक्त निम्न प्रकार है–

46. कल्पसूत्र (पर्युषण कल्प, जिनचरित, स्थविरावलि, समाचारी), 47. यतिजीत कल्प (सोमप्रभसूरि), 48. श्राद्धजीत कल्प (धर्म घोष सूरि), 49. पाक्षिक सूत्र, 50. क्षमापना सूत्र, 51. वंदित्तु, 51. ऋषिभाषित, 53. अजीवकल्प, 54. गच्छाचार, 55. मरण समाधि, 56. सिद्धप्राभृत, 57. तीर्थोद्गार, 58. आराधना

पताका, 59. द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, 60. ज्योतिष करण्डक, 61. अंग विद्या, 62. तिथि प्रकीर्णक, 63. पिण्ड विशुद्धि, 64. सारावलि, 65. पर्यन्ताराधना, 66. जीवविभक्ति 67. कवचप्रकरण, 68. योनिप्राभृत, 69. अंगचूलिया, 70. वग्गचूलिया, 71. वृद्ध चतुःशरण, 72. जम्बूपयन्ना, 73. आवश्यक निर्युक्ति, 74. दशवैकालिक निर्युक्ति, 75. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, 76. आचारांग निर्युक्ति, 77, सूत्रकृताग निर्युक्ति, 78, सूर्य प्रज्ञप्ति, 79. बृहत्कल्प निर्युक्ति, 80. व्यवहार, 81. दशा श्रुत स्कन्ध निर्युक्ति, 82. ऋषिभाषित निर्युक्ति 83. संसक्त, निर्युक्ति, 84. विशेषावश्यक भाष्य ।

स्थानकवासी, और तेरा पन्थ संप्रदाय के अनुसार आगम 32 हैं—

अंग – 11, उपांग 12

मूल सूत्र 4– दशवै कालिक, उत्तराध्यान, अनुयोग द्वार, नंदी,

छेद सूत्र 4– निशीथ, व्यवहार, बृहत्कल्प, दशा श्रुत स्कन्ध, आवश्यक सूत्र 1

इन आगमों पर आचार्यों ने निर्युक्ति, भाष्य चूर्णि, टीका, विवरण, वृत्ति, पंजिका आदि रूप में विशाल प्राकृत-संस्कृत साहित्य लिखा। भद्रबाहु इन आचार्यों में प्रमुखतम आचार्य रहे हैं। उन्होंने दस ग्रन्थों पर पद्यबद्ध निर्युक्तियां लिखीं– आवश्यक, दश-वैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूत्रकृतांग, दशाश्रुत स्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहार, सूर्य प्रज्ञप्ति और ऋषि भाषित। इनकी रचना निक्षेप पद्धति में की गई है।

आवश्यक, दशवै कालिक, उत्तराध्ययन, बृहत्कल्प, पंचकल्प, व्यवहार, निशीथ, जीतकल्प, ओघनिर्युक्ति और पिण्ड निर्युक्ति पर प्राकृत पद्य बद्ध भाष्य मिलते हैं। इनमें आचार्य जिनभद्र (वि.स. 650-660) का विशेषावश्यक भाष्य विशेष उल्लेखनीय है। संघदासगणि का बृहत्कल्प लघुभाष्य भी इसी प्रकार दार्शनिक और साहित्यक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

चूर्णि साहित्य पद्य में न होकर प्राकृत-संस्कृत मिश्रित गद्य में है। चूर्णिकारों में जिन दास गणि महत्तर और सिद्धसेन सूरि प्रमुख हैं। टीकाओं का कथाभाग अधिकांशतः प्राकृत में है। हरि भद्रसूरि, शीलांकाचार्य और शांतिसूरि इन टीका कारों में अग्रगण्य हैं। यह साहित्य अर्ध मागधी प्राकृत में है जिसे श्वेताम्बर संप्रदाय स्वीकार करता है और दिगम्बर सप्रदाय लुप्त मानता है।

पीछे हम दृष्टिवाद के संदर्भ में लिख चुके हैं। श्वेताम्बर संप्रदाय उसे लुप्त मानता है जबकि दिगम्बर संप्रदाय उसके कुछ भाग को स्वीकार करता है। उसका षट्खण्डागम इसी दृष्टिवाद के अन्तर्गत अग्रायणी नामक द्वितीय पूर्व के चयनलब्धि नामक पांचवे अधिकार के चतुर्थ पाहुड (प्राभृत) कर्म प्रकृति पर आधारित है। इस

लिए इसे कर्मप्राभृत भी कहा जाता है। इसके प्रारम्भिक भाग सत्प्ररूपणा के रचयिता आचार्य पुष्पदन्त हैं और शेष भाग की रचना भूतबलि ने की है। इनका समय महावीर निर्वाण के लगभग 600-700 वर्ष बाद माना जाता है। इस पर वीरसेन (सं.873) की 72 हजार श्लोक प्रमाण धवला टीका उपलब्ध है। दृष्टिवाद के ही ज्ञान प्रवाद नामक पाचवें पूर्व की दसवीं वस्तु के पेज्ज दोस नामक तृतीय प्राभृत से 'कसाय पाहुड़' की उत्पत्ति हुई जिसकी रचना गुणधर (वीर निर्वाण के 685 वर्ष बाद) ने की। इस पर वीरसेन (सन् 874) ने 20 हजार श्लोक प्रमाण जो जयधवला टीका लिखी उसे अधूरी रही। जिनसेन ने सं. 894 में समाप्त किया 40 हजार श्लोक प्रमाण और लिखकर। इन ग्रन्थों के आधार पर ही नेमिचन्द सिद्धांत चक्रवर्ती ने वि. सं. की 11 वी शती में गोमट्टसार व लब्धिसार की रचना की। पच सग्रह खवगसेढी आदि ग्रन्थ भी इसी श्रेणी में आते हैं।

कर्म साहित्य के ये ग्रन्थ शौरसेनी प्राकृत मे हैं। इनके अतिरिक्त कुछ और सिद्धांत ग्रन्थ है जिन्हें आगम ग्रन्थो के रूप में मान्यता मिली है। इन ग्रन्थों में प्रमुख है— आचार्य कुन्दकुन्द (प्रथमशती) के पवयणसार, समयसार, नियमसार, पचत्थिकाय संगहसुत्त, दसण पाहुड़, चारित पाहुड़, सुतपाहुड़, बोधपाहुड़, भावपाहुड़, आदि, वट्टकेर (3री शती) का मूलाचार, शिवार्य (3 री शती)की भगवइ आराहणा, वसुनन्दी का उवासयाज्झयण।

इनके अतिरिक्त और भी विशाल प्राकृत साहित्य है। आचार्य सिद्धसेन (5-6 वीं शती) का सम्मइसुत्त, नेमिचन्द सूरि का पवयण सारुद्धार, धर्मदासगणी (8 वीं शती) की उवएस माला, जिनरत्न सूरि का विवेग विलास, हरिभद्र सूरि का पंच-वत्थुग, वीरभद्र की आराहणापडाया, कुमारकार्तिकेय का बारसाणुवेक्खा आदि कुछ ऐसे प्राकृत ग्रन्थ हैं जिनसे जैन सिद्धात और आचार पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

त्रेसठ शलाका महापुरुषो पर भी जैनचार्यों ने प्राकृत साहित्य लिखा है। विमलसूरि (वि. स. 530) का पउमचरिय, शीलाचार्य का चउप्पन्न महापुरिसचरिय नेमिचद सूरि का महावीर चरिय, श्रीचन्दसूरि का सणंत कुमार चरिय, संघदासगणि व धर्मदासगणिका वसुदवहिण्डी उल्लेखनीय है इन सभी के आधार पर कथा साहित्य की भी रचना हुई है। धर्मदासगणि का उपदेश माला प्रकरण, जयसिंह सूरि का धर्मोपदेसमाला विवरण. देवेन्द्रगणि का आक्खाणयमणि कोस आदि महत्त्वपूर्ण कथा-कोश ग्रन्थ हैं। इसी तरह ज्योतिष, गणित, व्याकरण, कोश आदि विधाओं में भी प्राकृत साहित्य के अनुपम ग्रन्थ मिलते हैं।

प्राकृत साहित्य के साथ ही हम अपभ्रंश साहित्य पर भी विचार कर सकते हैं। प्राकृत का ही विकसित रूप अपभ्रंश है। इसका साहित्य लगभग 7 वीं शती से 16 वीं शती तक उपलब्ध होता है। इस बीच अनेक महाकाव्य और खण्डकाव्य

लिखे गये । ये काव्य प्रायः संस्कृत शैली का अनुकरण करते दिखाई देते हैं । महाकवि स्वयंभू (लगभग 8वीं शती) के पउमचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ, पुष्पदंत का महा-पुराण (ई. 965), धनपाल का भविसयत्त कहा धवल, (14वीं शती) का हरिवंश-पुराण, वीरकवि का जंबूसामिचरिउ, नयनंदि का सुदंसणचरिउ, श्रीधर के भविसयत्त चरिउ, पासणाहचरिउ, सुकुमालचरिउ, यशः-कीर्ति का चंदप्पह चरिउ, योगीन्द्र के परमप्पयासु व योगसार, महचंद का दोहापाहुड, देवसेन का सावयधम्म दोहा आदि ऐसे ग्रन्थ हैं जो काव्यात्मकता और आध्यात्मिकता को समेटे हुए हैं । इस पर हम अपनी अन्यतम पुस्तक 'मध्यकालीन हिन्दी जैन साहित्य में रहस्यभावना' में विचार कर चुके हैं ।

2. संस्कृत साहित्य

संस्कृत की लोकप्रियता और उपयोगिता को देखकर जैनाचार्यों ने भी उसे अपनी अभिव्यक्ति का साधन बनाया । सस्कृत का सर्वप्रथम उपयोग करने वाले जैना-चार्य उमास्वाति रहे हैं जिन्होने तत्वार्थ सूत्र की रचनाकर आगामी आचार्यों का मार्ग प्रशस्त किया । वे सिद्धान्त के उद्‌घट विद्वान थे । उनका अनुकरण कर उनके ही ग्रन्थ पर तत्वार्थवार्तिक, सर्वार्थ सिद्धि, तत्वार्थ श्लोक वार्तिक आदि जैसे वृहत्काय ग्रन्थ लिखे गये । हरिभद्रसूरि, अमृतचन्द्र, जयसेन, आशाधर, सिद्धसेन सूरि, माघनन्दी, जयशेखर, अमितगति आदि आचार्यों ने विपुल साहित्य का निर्माण किया ।

न्याय के क्षेत्र मे समन्तभद्र (2—3 री शती) की आप्तमीमासा, स्वयम्भूस्तोत्र और युक्त्यनुशासन ग्रन्थ मानदण्ड रहे है । आचार्य अकलंक, विद्यानन्दि और वसुनन्दि ने इन ग्रथो पर टीकाये लिखी है । इनके अतिरिक्त सिद्धसेन का न्यायावतार, हरिभद्रसूरि के शास्त्रवार्ता समुच्चय, षड्‌दर्शन समुच्चय और अनेकान्त जयपताका, अकलंक के न्याय विनिश्चय, सिद्धि विनिश्चय आदि तथा प्रभाचन्द्र आदि के ग्रन्थ जैन न्याय के प्रमुख ग्रन्थ है । इनमे प्रत्यक्ष और परोक्ष की परिभाषायें सुस्थिर हुई है । यशोविजय (18 वी शती) ने नव्यन्याय के क्षेत्र को प्रशस्त किया है ।

आचार के क्षेत्र में भी उमास्वामी आद्य आचार्य रहे है । उनके बाद समन्तभद्र का रत्नकरण्ड श्रावकाचार, सोमदेव का उपासकाध्ययन, आशाधर का सागर धर्मामृत, सोमप्रभ सूरि का सिन्दूर प्रकरण उल्लेखनीय है । आगम साहित्य पर टीकायें लिखने वालो मे जिनभद्र (7 वी शती), हरिभद्र (8 वी शती), अभयदेव (12 वीं शती), मलयगिरी (12 वीं शती, हेमचन्द्र (12 वीं शती) प्रमुख हैं । स्तोत्र परम्परा भी लम्बी है । समन्तभद्र के देवागम स्तोत्र और स्वयंभू स्तोत्र से इस परम्परा का प्रारम्भ होता है । सिद्धसेन की बत्तीसियाँ, अकलंक का अकलंक

स्तोत्र, गुणभद्र का आत्मानुशासन, मानतुंग का भक्तामर स्तोत्र, आशाधर का सहस्रनाम स्तोत्र आदि स्तोत्र परक साहित्य ने उसका अनुकरण किया।

इसी प्रकार पौराणिक और ऐतिहासिक काव्य साहित्य में रविषेण का पद्म-पुराण (वि. सं. 734), जिनसेन का हरिवंशपुराण (शक सं 705), आदिपुराण, गुणभद्र का उत्तरपुराण (शक सं. 770), हेमचन्द्र का त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित (वि. स. 1228), आदि ऐसे ग्रन्थ हैं जिनका सांस्कृतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत अधिक महत्व है।

जैनाचार्यों ने कथासाहित्य का उपयोग आध्यात्मिक जिज्ञासाओं के समाधान के लिए किया है। समूचा आगम साहित्य ऐसी कथाओं से आपूर है जिनमें लौकिक कथाओं को अपने उद्देश्य के अनुसार परिवर्तित कर दिया गया है। हरिषेण का बृहत् कथाकोश (वि. सं 955), प्रभाचन्द्र तथा नेमिचन्द्र के कथाकोश, सकलकीर्ति आदि के व्रतकथाकोश इस सदर्भ मे विशेष उल्लेखनीय है। व्यक्ति विशेष को लेकर भी सैकड़ो ग्रन्थ लिखे गये हैं जिनका समीक्षात्मक अध्ययन करना अभी शेष है। इन सभी ग्रन्थों की पृष्ठभूमि मे जैन सिद्धान्त की व्याख्या–प्रस्तुति रही है।

इसके अतिरिक्त व्याकरण, कोश, अलकार, छन्द, काव्य, ज्योतिष, कोश, आयुर्वेद, नाटक आदि विधाओ मे भी जैनाचार्यों ने सस्कृत साहित्य का सृजन किया है।

अभी हमने जैन साहित्य की विविध विधाओ को देखा। उनमे अधिकांश रचनाये उच्च कोटि की हैं। काव्य सौंदर्य की दृष्टि से तो एक-एक ग्रथ बेजोड़ दिखाई देता है। पार्श्वाभ्युदय, धर्मशर्माभ्युदय, यशस्तिलकचम्पू पार्श्वचिंतामणि, तिलकमंजरी आदि काव्य कालिदास, माघ, भारवि तथा श्रीहर्ष आदि जैसे महाकवियों के ग्रंथों की तुलना मे किसी तरह कम नही। चम्पू साहित्य मे यशस्तिलकचम्पू की कोटि का कोई ग्रथ है ही नही। स्तोत्र साहित्य मे भक्तामर, विषापहार, ऐकीभाव आदि स्तोत्र भक्ति-रस के कलश है। प्राकृत साहित्य तो अधिकांशतः जैनियो द्वारा ही लिखा गया है। यह सभी साहित्य प्राचीन भारतीय भूगोल और संस्कृति की जानकारी के लिए एक अनुपम और अजस्र स्रोत है। लालित्य के अतिरिक्त इसमें राष्ट्रीयता कूट-कूट कर भरी हुई है समन्वयवादिता के लिए तो जैन कवि अग्रदूत कहे जा सकते हैं। अनेकांत वाद की प्रतिष्ठा और उस पर लिखा गया साहित्य इसका स्पष्ट उदाहरण है। आचार क्षेत्र मे अहिंसा और विचार क्षेत्र मे अनेकांत की प्रस्थापना द्वारा मानव का जो नैतिक व बौद्धिक उत्थान करने का प्रयत्न जैन तीर्थंकर और उनके शिष्यों-प्रशिष्यों ने किया वह अविस्मरणीय रहेगा। समाजवाद को सही रूप मे लाने का प्रयत्न अपरिग्रहवाद द्वारा किया गया है। इस प्रकार जैन धर्म और साहित्य की मूल भावना सर्वोदयमयी रही है—

सर्वान्तवद् तद्गुणमुख्य कल्पम् सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम् ।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥

प्रायः जैन साहित्य पर आक्षेप किया जाता है कि वह साम्प्रदायिक साहित्य है। इस ओट में उसका मूल्यांकन करने कोई तैयार नहीं होता, यह बड़े दुःख व आश्चर्य की बात है। सच तो यह है कि इस साम्प्रदायिक दृष्टि के व्यामोह में विद्वानों और राजनीतिकों ने जैन साहित्य को फूटी आंखों से भी नहीं देखा। यदि वे जैन साहित्य को साम्प्रदायिक साहित्य कहना चाहते हैं तो वेद से लेकर कालिदास, भारवि, श्रीहर्ष, शंकराचार्य आदि महाकवियों के साहित्य को असाम्प्रदायिक की श्रेणी में कैसे खड़ा किया जा सकता है? आश्चर्य है, भारत के किसी भी विश्व विद्यालय की किसी भी प्राच्य भारतीय विद्या की परीक्षा में जैन साहित्य को कोई विशेष स्थान प्राप्त नहीं। इसका फल यह हुआ है कि विद्वान और छात्रगण उस ओर दृष्टिपात ही नहीं करते। हर व्यक्ति किसी धर्म और सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्धित होता ही है। तब निश्चित ही उसकी विचारधारा का प्रतिबिम्ब उसके साहित्य पर पड़ेगा। इसलिए साम्प्रदायिक और असाम्प्रदायिक जैसे शब्दों के बीच की भेदक रेखा स्पष्ट होनी चाहिए अन्यथा प्राचीन भारतीय संस्कृति के अनेक बहुमूल्य तत्त्व न जाने कब तक प्रच्छन्न रहेंगे। साहित्य के क्षेत्र मे विचारक की दृष्टि विशुद्ध और निष्पक्ष होनी चाहिए तभी उसका सही मूल्यांकन सम्भव है।

जैनाचार्यों ने प्राकृत को विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। बादमे लगभग सभी प्रादेशिक भाषाओं को भी उसी रूप में अपनाया गया इन सभी भाषाओं का आद्य साहित्य प्रायः जैनाचार्यों से प्रारम्भ होता है।

प्राच्य भारतीय साहित्य में जैन वाङ्मय का नाम उस दिन स्वर्णाक्षरों में लिखा जायेगा जिस दिन उसका सम्पूर्ण साहित्य प्रकाश में आ जायेगा। साहित्य की ऐसी कोई विधा नहीं जिसमें जैनाचार्यों ने कलम न चलायी हो। प्राचीन भारतीय भाषाओं मे ऐसी कोई भाषा भी नहीं, जिसे उन्होंने न अपनाया हो। लोकभाषा और साहित्यिक भाषा दोनो पर उन्होंने समान अधिकार पाया और आगम, काव्य, न्याय व्याकरण, छन्द, कोष, अलंकार, आयुर्वेद, ज्योतिष, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि सभी विषयों पर संस्कृत प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, मराठी, गुजराती, बगला, उड़िया आदि भाषाओं तथा राजस्थानी, बुंदेलखंडी, ब्रज आदि जैसी बोलियों में भरपूर साहित्य सर्जना की। इसके साथ द्रविड भाषाओं—तमिल, तेलगु, कन्नड़ और मलयालम मे भी उसी कोटि का साहित्यिक कार्य जैनाचार्यों ने किया।

अन्य भाषा साहित्य प्रवृत्ति :

तमिल भाषा के पांच आद्य महाकाव्य माने जाते हैं—शिल्पदिकारम, वलयापति, चिन्तामणि, कुण्डलकेशि और मणि मेखलै। इनमें प्रथम तीन निर्विवाद रूप से जैन महाकाव्य हैं। इनके अतिरिक्त पांच लघुकाव्य भी जैनाचार्यों की कृतियां हैं—नीलकेशि चूड़ामणि, यशोधरकावियम, नागकुमार कावियम्, तथा उदयपानक थे। कुरल काव्य को तो कुन्दकुन्दाचार्य की कृति मानी जाती है। अन्य तमिल काव्य विधायें भी जैनाचार्यों ने समृद्ध की हैं।

कन्नड़ साहित्य तो जैनों से ओतप्रोत रहा है कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानन्दि, सोमदेव जैसे प्रधान जैनाचार्य कर्नाटक की ही देन है। महाकवि पम्प, पोन्न, रन्न, चामुण्डराय, नागचन्द्र, सोमनाथ, गुणवर्मा, महाबल आदि जैन धर्म के ही अनुयायी थे जिन्होंने कन्नड साहित्य की विविध विधाओं मे साहित्य सृजन किया है तत्वत: कन्नड़ का पचहत्तर प्रतिशत साहित्य जैन साहित्य है जो कर्नाटक में जैन धर्म की लोकप्रियता का उदाहरण माना जा सकता है। इसी तरह मराठी साहित्य के भी आद्य लेखक जैन रहे हैं। पर अधिक मराठी जैन साहित्य 17 वी शती से प्रारम्भ होता है।

गुजरात तो प्रारम्भ से जैनधर्म का आश्रयदाता रहा है। उसका साहित्य 12 वी शती से प्रारम्भ होता है जिसके प्रवर्तक जैनाचार्य ही थे। रासो, फागु, बारहमासा, विवाहलु आदि काव्य प्रवृत्तियों के जन्मदाता जैन ही थे। शालिभद्र सूरि, (1185 ई.) का भरतेश्वर बाहुबलि रास प्रथम प्राप्य गुजराती कृति है। विनयप्रभ, राजशेखर सूरि जैसे प्रमुख गुजराती कवि उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी का भी आदिकाल जैनाचार्यों से ही प्रारम्भ होता है। जिनदत्त सूरि का चर्चरी, उपदेश आसिग का जीवदयारास, जिनपद्म की सिरिथूलिभद्द फागु आदि ऐसी ही जैन कृतियां है। मध्यकाल मे सहस्राधिक प्रबन्ध काव्य रूपक काव्य, अध्यात्म और भक्ति मूलक काव्य, गीति काव्य और प्रकीर्णक काव्य लिखे गये हैं। ब्रह्मजिनदास बनारसीदास, द्यानतराय' कुशल लाभ, रायमल्ल, जयसागर, भैयाभगवतीदास आदि जैसे शीर्षस्थ कहाकवि मध्यकाल की देन है। इन सभी पर हम अपने "हिन्दी जैन काव्य प्रवृत्ति" तथा 'मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य में रहस्यभावना' ग्रंथों में विचार कर चुके हैं। यहां कविवर ब्रह्म जयसागर तथा द्यानतराय पर विशेष ध्यान आकृष्ट करना चाहती हूं।

कविवर द्यानतराय

द्यानतराय हिन्दी जैन साहित्य के मूर्धन्य कवि माने जाते हैं। वे अध्यात्म-रसिक और परमतत्व के उपासक थे। उनका जन्म वि० सं० 1733 में आगरा में हुआ था। कवि के प्रमुख ग्रन्थो में धर्मविलास स० 1780) और आगमविलास उल्लेखनीय हैं। धर्मविलास मे कवि की लगभग समूची रचनाओं का संकलन किया गया है। इसमें 333 पद, पूजायें तथा अन्य विषयों से सम्बद्ध रचनायें मिलती हैं। आगम विलास का सकलन कवि की मृत्यु के बाद प० जगतराय ने स० 1784 में किया। इसमे 46 रचनाये मिलती हैं। इसके अनुसार द्यानतराय का निधन काल सं० 1783 कार्तिक शुक्ल चतुर्दशी है। धर्मविलास में कवि ने स० 1780 तक की जीवन की घटनाओं का सक्षिप्त आकलन किया है। इसे हम उनका आत्मचरित् कह सकते हैं जो बनारसीदास के अर्धकथानक का अनुकरण करता प्रतीत होता है। इनके अतिरिक्त कवि की कुछ फुटकर रचनायें और पद भी उपलब्ध होते हैं। 333 पदों के अतिरिक्त लगभग 200 पद और होंगे। ये पद जयपुर, दिल्ली आदि स्थानों के शास्त्र भण्डारो मे सुरक्षित हैं।

हिन्दी सन्त अध्यात्म-साधना को सजोये हुए हैं। वे सहज-साधना द्वारा परमात्मपद की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहे हैं। उनके साहित्य में भक्ति, स्वसंवेद्यज्ञान और सत्कर्म का तथा सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् का सुन्दर समन्वय मिलता है जो आत्मचिन्तन से स्फुटित हुआ है। इस पथ का पथिक सत, संसार की क्षणभंगुरता, माया-मोह, बाह्याडम्बर की निरर्थकता, पुस्तकीय ज्ञान की व्यर्थता मन की एकाग्रता, चित्त शुद्धि, स्वसवेद्य ज्ञान पर जोर, सद्गुरु-सत्सग की महिमा प्रपत्ति भक्ति, सहज साधना आदि विशेषताओं से मंडित विचारधाराओ में डुबकियां लगाता रहता है। इन सभी विषयों पर वह गहन चिंतन करता हुआ परम साध्य की प्राप्ति मे जुट जाता है।

कवि द्यानतराय की जीवन-साधना इन्हीं विशेषताओं को प्राप्त करने में लगी रही। और उन्होंने जो कुछ भी लिखा, वह एक ओर उनका भक्ति प्रवाह है तो दूसरी ओर संत-साधना की प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति है। यही कारण है कि उनके साहित्य मे भक्ति और रहस्य भावना का सुन्दर समन्वय हुआ है। यहाँ हम कवि की इन्ही प्रवृत्तियों का संक्षिप्त विश्लेषण कर रहे हैं।

साधक कवि सांसारिक विषय-वासना और उसकी असारता एवं क्षणभंगुरता पर विविध प्रकार से चिन्तन करता है। चिन्तन करते समय वह सहजता पूर्वक भावुक हो जाता है। उस अवस्था में वह अपने को कभी दोष देता है तो कभी तीर्थंकरों को बीच में लाता है। कभी रागादिक पदार्थों की ओर निहारता है तो कभी तीर्थंकरों से प्रार्थना, विनती और उलाहने की बात करता है। कभी पश्चात्ताप करता हुआ दिखाई देता है तो कभी सत्संगति के लिए प्रयत्नशील दिखता है। द्यानतराय को तो यह सारा संसार बिल्कुल मिथ्या दिखाई देता है। वे अनुभव

करते हैं कि जिस देह को हमने अपना माना और जिसे हम सभी प्रकार के रसपानों से पोषते रहे, वह कभी हमारे साथ नहीं चलता, तब अन्य पदार्थों की बात क्या सोचें ? सुख के मूल स्वरूप को तो देखा समझा ही नहीं। व्यर्थ में मोह करता है। आत्मतत्त्व को पाये बिना असत्य के माध्यम से जीव द्रव्यार्जन करता, असत्य भक्षण करता, यमराज से भयभीत होता मैं और मेरा की रट लगाता संसार में घूमता फिरता है। इसलिए संसार की विनाशशीलता को देखते हुए वे संसारी जीवों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—

मिथ्या यह संसार है रे, झूठा यह संसार है रे ॥
जो देही वह रस सौं पोषै, सो नहि संग चले रे,
औरन कौं तोंहि कौन भरोसो, नाहक मोह करे रे ॥
सुख की बातें बूझे नाहीं, दुख कौं सुख लेखें रे।
मूढ़ौ मांही माता डोलै, साधौ नाल डरें रे ॥
झूठ कमाता झूठी खाता, झूठी जाप जपे रे।
सच्चा सांई सूझे नाहीं, क्यों कर पार लगे रे ॥
जम सौं डरता फूला फिरता, करता मैं मैं मेरे।
द्यानत स्याना सोई जाना, जो जन ध्यान धरे रे ॥[1]

कबीर[2] दादू[3] नानक[4] आदि हिन्दी सन्तों ने भी संसार की असारता और क्षणभंगुरता का द्यानतराय[5] से मिलता जुलता चित्रण किया है। सगुण भक्त कवि भी संसार चिन्तन में पीछे नहीं रहे। उन्होंने भी निर्गुण सन्तों का अनुकरण किया है।

संसारी जीव मिथ्यात्व के कारण ही कर्मों से बंधा रहता है वह माया के फंदे मे फंसकर जन्म-मरण की प्रक्रिया लम्बी करता चला जाता है। द्यानतराय ऐसे मिथ्यात्वी की स्थिति देखकर पूछ उठते हैं कि हे आत्मन् यह मिथ्यात्व तुमने

---

1. हिन्दी पद संग्रह, 156 पृ. 130
2. ऐसा संसार है जैसा सेमरफूल ।
   दस दिन के व्यवहार में झूठे रे मन भूल ॥ कबीर साखी संग्रह, पृ. 61
3. यह ससार सेंवल के फूल ज्यों तापर तू जिनि फूलै ॥ दादूबानी भाग–2 पृ. 14
4. आथ घड़ी कोऊ नाहिं राखत घर तें देत निकार ॥
   संतबाणी संग्रह, भाग–2 पृ. 46
5. झूठा सुपना यह संसार ।
   दीसत है विनसत नहीं ही बार ॥ हिन्दी पद संग्रह, पृ. 133

कहाँ से प्राप्त किया। सारा संसार स्वार्थ की ओर निहारता है, पर तुम्हें स्व-कल्याण रूप स्वार्थ नहीं रुचता। इस अपवित्र अचेतन देह में तुम कैसे मोहासक्त हो गये। अपना परम अतीन्द्रिय शाश्वत सुख छोड़कर पंचेन्द्रियों की विषय-वासना में तन्मय ही रहे हो। तुम्हारा चैतन्य नाम जड़ क्यों हो गया और तुमने अनंत ज्ञानादिक गुणों से युक्त अपना नाम क्यों भुला दिया? त्रिलोक का स्वतन्त्र राज्य छोड़कर इस परतन्त्र अवस्था को स्वीकारते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती? मिथ्यात्व को दूर करने के बाद ही तुम कर्ममल से मुक्त हो सकोगे और परमात्मा कहला सकोगे। तभी तुम अनन्त सुख को प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त कर सकोगे।

"जीव ! तू मूढपना कित पायो।
सब जग स्वारथ को चाहता है, स्वारथ तोहि न भायो।
अशुचि समेत दृष्टि तन मांही, कहा ज्ञान विरमायो।
परम अतिन्द्री निज सुख हरि के, विषय रोग लपटाओ।।[1]

मिथ्यात्व को ही साधकों ने मोह-माया के रूप मे चित्रित किया है। सगुण निर्गुण कवियों ने भी इसको इसी रूप मे माना है। भूधरदास ने इसी को 'सुनि ठगनी माया तैं सब जग ठग खाया'।[2] कबीर ने इसी माया को छाया के समान बताया जो प्रयत्न करने पर भी ग्रहण नहीं की जा सकती, फिर भी जीव उसके पीछे दौड़ता रहता है।

साधक कवि नरभव की दुर्लभता समझकर मिथ्यात्व को दूर करने का प्रयत्न करता करता है। जैन धर्म में मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ माना गया है। इसीलिए हर प्रकार से इस जन्म को सार्थक बनाने का प्रयत्न किया जाता है। द्यानतराय ने "नाहि ऐसो जनम बारम्बार"[3] कहकर यही बात कही है। उनके अनुसार यदि कोई नरभव को सफल नही बनाता, तो "अन्ध हाथ बटेर आई, तजत ताहि गंवार" वाली कहावत उसके साथ चरितार्थ हो जायेगी।[4] इसलिए उन्हें कहना पड़ा 'जानत क्यो नहिं हे नर आतमज्ञानी'।[5] आत्म चेतन को

---

1. अध्यात्म पदावली, पृ. 360
2. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 124
3. संत वाणी संग्रह, भाग–9, पृ. 57
4. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 116
5. वही, पृ. 115

चिन्तन करते हुए पुनः वह कह उठता है कि संसार का हर पदार्थ क्षणभंगुर है और तू अविनाशी है—

'तू अविनाशी आत्मा, विनाशीक संसार ।'

परन्तु माया-मोह के चक्कर में पड़कर तू स्वयं की शक्ति को भूल गया है। तेरी हर श्वासोच्छ्वास के साथ सोहं-सोहं के भाव उठते हैं। यही तीनों लोकों का सार है। तुम्हें तो सोहं छोड़कर अजपा जाप में लग जाना चाहिए।[1] आत्मा को अविनाशी और विशुद्ध बताकर उसे अनन्तचतुष्टय का धनी बताया। आत्मा की इसी अवस्था को परमात्मा कहा गया है।

संत कबीर ने भी जीव और ब्रह्म को पृथक् नहीं माना। अविद्या के कारण ही वह अपने आप को ब्रह्म से पृथक् मानता है। उस अविद्या और माया के दूर होने पर जीव और ब्रह्म अद्वैत हो जाते हैं—"सब घटि अन्तरि तू ही व्यापक, धरै सरूपै सोई ।[2] द्यानतराय के समान ही कबीर ने उसे आतम ज्ञान की प्राप्ति कराने वाला माना है।[3]

आत्मचिन्तन करने के बाद कवि ने भेदविज्ञान की बात कही। भेदविज्ञान का तात्पर्य है स्व-पर का विवेक। सम्यक्दृष्टि ही भेदविज्ञानी होता है। संसार-सागर से पार होने के लिए यह एक आवश्यक तथ्य है। द्यानतराय का विवेक जाग्रत हो जाता है और आत्मानुभूति पूर्वक चिन्तन करते हुए कह उठते हैं कि अब उन्हें चर्म-चक्षुओं की भी आवश्यकता नहीं। अब तो मात्र आत्मा की अनंत गुण शक्ति की ओर हमारा ध्यान है। सभी वैभाविक-भाव नष्ट हो चुके हैं और आत्मानुभव करके संसार-दुःख से छूटे जा रहे हैं।

"हम लागे आतम राम सौं।
विनासीक पुद्गल की छाया, कौन रमै धन-धाम सौं॥
समता-सुख घट में परगाट्यो, कौन काज है काम सौं।
दुविधा भाव जलांजलि दीनौं, मेल भयो निज स्याम सौं।
भेद ज्ञान करि निज-पर देख्यौ, कौन विलोके चाम सौं।[4]

भेदविज्ञान पाने के लिए वीतरागी सद्गुरु की आवश्यकता होती है। हर धर्म में सद्गुरु का विशेष स्थान है। साधना में सद्गुरु का वही स्थान है जो

---

2. धर्म विलास, पृ. 165
2. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 105
3. वही, पृ. 89
4. अध्यात्म पदावली, 47, पृ. 358

अरिहन्त का है। जैन-साधकों ने पंच परमेष्ठियों को सद्गुरु मानकर उसकी उपासना, भक्ति और स्तुति की है। जैन दर्शन मे सद्गुरु को आप्त और अवि-संवादी माना है। द्यानतराय को गुरु के समान और दूसरा कोई दाता दिखाई नहीं देता। उनके अनुसार गुरु उस अन्धकार को नष्ट कर देता है जिसे सूर्य भी नष्ट नहीं कर पाता। मेघ के समान सभी पर समान भाव से निस्वार्थ होकर वह कृपाजल बरसाता है, नरक तिर्यन्च आदि गतियों से मुक्तकर जीवों को स्वर्ग-मोक्ष मे पहुंचाता है। अतः त्रिभुवन मे दीपक के समान प्रकाश करने वाला गुरु ही है। वह संसार ससार से पार लगाने वाला जहाज है। विशुद्ध-मन से उनके पद-पंकज का स्मरण करना चाहिए।

गुरु समान दाता नही कोई। आदि।[1]

संत साहित्य मे भी कबीर, दादू, नानक, सुन्दर दास आदि ने सद्गुरु और सत्संग के महत्व को जैन कवियों की ही भांति शब्दों के कुछ हेर–फेर से स्वीकार किया है। द्यानतराय कबीर के समान उन्हे कृतकृत्य मानते हैं। जिन्हें सत्संगति प्राप्त हो गई है—"कर कर संगत, सगत रे भाई।"[2]

भेदविज्ञान की प्राप्ति के लिए सद्गुरु मार्गदर्शन करता है। उसकी प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का समन्वित रूप–रत्न त्रय माना गया है। भेदविज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान कहा गया है। अन्तरंग और बहिरंग सभी प्रकार के परिग्रहों से दूर रहकर परिषह सहते हुए तप करने से परम-पद प्राप्त होता है।[3] साधक कवि द्यानतराय आत्मानुभव करने पर कहने लगता है "हम लागे आतमराम सौं। उसकी आत्मा में समता सुख प्रकट हो जाता है, दुविधाभाव नष्ट हो जाता है और भेद विज्ञान के द्वारा स्व–पर का विवेक जाग्रत हो जाता है इसलिए द्यानतराय कहने लगते हैं कि आतम अनुभव करना रे भाई।"[8] कवि यहां आत्मानुभूति प्रधान हो जाता है और कह उठता है "मोह कब ऐसा दिन आय है" जब भेदविज्ञान हो जायेगा।

संत साहित्य में भी स्वानुभूति को महत्व दिया गया है कबीर ने "राम रतन पाया रे करम विचारा. नैना नैन अगोचरी,[5] आप पिछानै आपै आप[6]

---

1. द्यानत पद संग्रह, पृ. 10
2. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 137
3. हिन्दी पद संग्रह, द्यानतराय, पृ० 109–141
4. हिन्दी पद संग्रह, द्यानतराय, पृ. 109-141
5. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 241
6. वही पृ. 318

जैसे उदाहरणों के माध्यम से अनुभव की आवश्यकता को स्पष्ट किया है। दादू ने भी इसी प्रकार से "सो हम देख्या नैन भरि, सुन्दर सहज स्वरूप" के रूप में अनुभव किया।[1]

स्वानुभूति के संदर्भ में मन एकाग्र किया जाता है और इसके लिए यम नियमों का पालन करना आवश्यक है। योगी ही धर्मध्यान और शुक्लध्यान को प्राप्त कर पाता है। यहीं समभाव और समरसता की अनुभूति होती है। द्यानतराय ने इस अनुभूति को गूंगे का गुड़ माना है।[2] इस सहज साधना में अजपा जाप, नाम स्मरण को भी महत्व दिया गया है। व्यवहार नय की दृष्टि से जाप करना अनुचित नहीं है, निश्चय नय की दृष्टि से उसे बाह्य क्रिया माना है। तभी द्यानतराय ऐसे सुमरन को महत्व देते है जिससे—

ऐसो सुमरन करिये रे भाई।
पवन थंभै मन कितहु न जाइ॥
परमेसुर सौं साचीं रहीजै।
लोक रंजना भय तजि दीजै।
यम अरु नियम दोउ विधि धारौ।
आसन प्राणायाम समारौ॥
प्रत्याहार धारना कीजै
ध्यान समाधि महारस पीजै॥[3]

उसी प्रकार अनहद नाद के विषय में लिखते हैं—

अनहद सबद सदा सुन रे॥
आप ही जानैं और न जानैं,
कान बिना सुनिये धनु रे॥
भमर गुंज सम होत निरन्तर,
ता अंतर गति चितवन रे॥[4]

इसीलिए द्यानतराय ने सोहं को तीन लोक का सार कहा है। जिन साधकों के श्वासोच्छ्वास के साथ सदैव ही "सोहं सोहं की ध्वनि होती रहती है और जो सोहं के अर्थ को समझकर, अजपा जाप की साधना करते हैं, श्रेष्ठ हैं—

1. दादूदयाल की बानी, भाग-1 परचा कौ अंग, 97,98,109
2. धानतविलास, कलकत्ता
3. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 119
4. वही, -118 पृ. 119-20

सोहं सोहं नित, सांस उसास मझार ।
ताको अरथ विचारिये, तीन लोक में सार ।।..............
जैसो तैसो आर, आप निहचै तजि सोहं ।
अजपा जाप संभार, सार सुख सोहं सोहं ।।[1]

आनन्दघन का भी यही मत है कि जो साधक आशाओं को मारकर अपने अन्त: करण में अजपा जाप को जपते हैं वे चेतनमूर्ति निरंजन का साक्षात्कार करते हैं ।[2] कबीर आदि संतों ने भी सहज—साधना, शब्द सुरति और शब्द ब्रह्म की उपासना की । ध्यान के लिए अजपा जाप और नाम जप को भी स्वीकार किया है ।[3] सहज समाधि को ही सर्वोपरि स्वीकार किया है ।[4]

साधक कवि को परमात्मपद पाने के लिए योग साधना का मार्ग जब दुर्गम प्रतीत होता है तो वह प्रपत्ति (भक्ति) का सहारा लेता है । रहस्य साधकों के लिए यह मार्ग अधिक सुगम है इसलिए सर्व प्रथम वह इसी मार्ग का अव-लम्बन लेकर क्रमश: रहस्य भावना की चरम सीमा पर पहुंचता है । रहस्य भावना की भूमिका चार प्रमुख तत्वों से निर्मित होती है-आस्तिकता, प्रेम और भावना, गुरु की प्रधानता और सहज मार्ग । जैन साधकों की आस्तिकता पर सन्देह की आवश्यकता नहीं । उन्होंने तीर्थंकरों के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों के प्रति अपनी अनन्य भक्ति भावना प्रदर्शित की है । द्यानतराय की भगवद् प्रेम भावना उन्हें प्रपन्न भक्त बनाकर प्रपत्ति के मार्ग को प्रशस्त करती है ।

प्रपत्ति का अर्थ है अनन्य शरणागत होने अथवा आत्मसर्पण करने की भावना । नवधाभक्ति का मूल उत्स भी प्रपत्ति है । भागवत पुराण में नवधा-भक्ति के 9 लक्षण हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण , पादसेवन (शरण), अर्चना, वंदना, दास्यभाव. सख्यभाव और आत्म निवेदन । कविवर बनारसीदास ने इनमे कुछ अन्तर किया है ।[5] पाचरात्र लक्ष्मी संहिता में प्रपत्ति की षड्विधायें दी गई है—

---

1. धर्मविलास, पृ. 65
2. आनन्दघन बहोत्तरी, पृ. 359
3. अनहद शब्द उठै झनकार, तहं प्रभु बैठे समरथ सार । कबीर ग्रन्थावली पृ. 301
4. संतो सहज समाधि भली । कबीर साखी, पृ. 262
5. श्रवन, कीरतन, चितवन, सेवन वन्दन ध्यान ।
   लघुता समता एकता नौधा भक्ति प्रमान ।।

   नाटक समयसार, मोक्षद्वार, 8, पृ. 218

अनुकूल संकल्प, प्रातिकूल्य का विसर्जन, संरक्षण, एतद्रूप विश्वास, गोप्तृत्व रूप में वरण, आत्म निक्षेप और कार्पण्यभाव।[1] प्रपत्ति भाव से प्रेरित होकर भक्त के मन में आराध्य के प्रति श्रद्धा और प्रेम भावना का अतिरेक होता है। द्यानतराय अपने अंगों की सार्थकता को तभी स्वीकार करते हैं जबकि वे आराध्य की ओर झुके रहें—

> रे जिय जनम लाहो लेह।
> चरन ते जिन भवन पहुंचे, दान दें कर जेह ॥
> उर सोई जा में दया है, अरु रुधिर को गेह।
> जीभ सो जिन नाम गावै, सांच सौ करे नेह ॥
> आंख ते जिनराज देखें और आंखें खेह।
> श्रवन ते जिन वचन सुनि शुभ तप तपै सो देह ॥[2]

कविवर द्यानतराय में प्रपत्ति की लगभग सभी विशेषतायें मिलती हैं। भक्त कवि ने अपने आराध्य का गुण कीर्तन करके अपनी भक्ति प्रकट की है। वह *आराध्य में असीम गुणों को देखता है पर उन्हें अभिव्यक्त करने में असमर्थ होने* के कारण कह उठता है—

> प्रभु मैं किहि विधि थुति करौं तेरी।
> गणधर कहत पार नहिं पाये, कहा बुधि है मेरी ॥
> शक्र जनम भरि सहस जीभ धरि तुम जस होत न पूरा।
> एक जीभ कैसे गुण गावे उलू कहै किमि सूरा ॥
> चमर छत्र सिंहासन बरनों, ये गुण तुम ते न्यारे।
> तुम गुण कहन वचन बल नाहिं, नैन गिनै किमि तारे ॥[3]

कवि को पार्श्वनाथ दुःखहर्ता और सुखकर्ता दिखाई देते हैं। वे उन्हें विघ्न-विनाशक, निर्धनों के लिए द्रव्यदाता, पुत्रहीनों को पुत्रदाता और महासंकटों के निवारक बताते हैं। कवि की भक्ति से भरा पार्श्वनाथ की महिमा का वर्णन द्रष्टव्य है—

> दुखी दुःखहर्ता सुखी सुक्खकर्ता।
> सदा सेवकों को महानन्द भर्ता ॥

---

1. अनुकूलस्य संकल्पः प्रातिकूलस्य वर्जनम्।
   रक्षिष्यतीति विश्वासो, गोप्तृत्व वरणं तथा।
   आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ॥
2. द्यानतपद संग्रह, 9 पृ. 4, कलकत्ता
3. द्यानत पद संग्रह. पृ. 45

हरे यक्ष राक्षस भूतं पिशाचं ।
विष डाकिनी विघ्न के भय अवाचं ।।
दरिद्रीन को द्रव्य के दान दाने ।।
अपुत्रीन को तू भले पुत्र कीने ।।
महासंकटों से निकारै विधाता ।
सबै संपदा सर्व को देहि दाता ।।[1]

नामस्मरण प्रपत्ति का एक अन्यतम अंग है जिसके माध्यम से भक्त अपने इष्ट के गुणों का अनुकरण करना चाहता है । द्यानतराय प्रभु के नामस्मरण के लिए मन को सचेत करते हैं जो भवजाल को नष्ट करने में कारण होता है-

रे मन भज भज दीनदयाल ।।
जाके नाम लेत इक छिन मे, कटै कोटि अघजाल ।।
पार ब्रह्म परमेश्वर स्वामी, देखत होत निकाल ।।
सुमरन करत परम सुख पावत, सेवत भाजै काल ।।
इन्द्र फणिन्द्र चक्रधर गावै, जाको नाम रसाल ।
जाके नाम ज्ञान प्रकासै, नासै मिथ्याजाल ।
सोई नाम जपो नित द्यानत, छाडि विषै विकराल ।।[2]

प्रभु का नामस्मरण भक्त तब तक करता रहता है, जब तक वह तन्मय नहीं हो जाता । जैनाचार्यों ने स्मरण और ध्यान को पर्यायवाची कहा है । स्मरण पहले तो रुक-रुक कर चलता है, फिर शनैः-शनैः एकांतता आती जाती है और वह ध्यान का रूप धारण कर लेता है । स्मरण में जितनी अधिक तल्लीनता बढ़ती जायेगी वह उतना ही तद्रूप होता जायेगा । इससे सांसारिक विभूतियों की प्राप्ति होनी आवश्यक है किन्तु हिन्दी के जैन कवियों ने आध्यात्मिक सुख के लिए ही बल दिया है । विशेषरूप से ध्यानवाची स्मरण जैन कवियों की अपनी विशेषता है । द्यानतराय अरहन्तदेव का स्मरण करने के लिए प्रेरित करते हैं । वे ख्यातिलाभ पूजादि छोड़कर प्रभु के निकटतर पहुंचना चाहते हैं-

अरहंत सुमरि मन बावरे ।।
ख्याति लाभ पूजा तजि भाई । अन्तर प्रभु लौ लाव रे ।।[3]

---

1. बृहज्जिनवाणी संग्रह, कलकत्ता से प्रकाशित
2. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 125-26
3. वही, पृ. 139

कवि आराध्य का दर्शन कर भक्तिवशात् उनके समक्ष अपने पूर्वकृत कर्मों का पश्चात्ताप करता है जिससे उसका मन हल्का होकर भक्तिभाव में और अधिक लीन हो जाता है। वे पश्चात्ताप करते हुए कह उठते हैं—'हम तो कबहुं न निज घर आये ॥ पर घर फिरत बहुत दिन बीते नाम अनेक धराये' ॥[1] पश्चात्ताप के साथ भक्ति के वश आराध्य को उपालम्भ देते हुए कुछ मुखर हो उठते हैं और कह देते हैं कि आप स्वयं तो मुक्ति में जाकर बैठ गये पर मैं अभी भी संसार में भटक रहा हूं। तुम्हारा नाम हमेशा मैं जपता हूं पर मुझे उससे कुछ मिलता नहीं। और कुछ नहीं तो कम से कम राग द्वेष को तो दूर कर ही दीजिए—

> तुम प्रभु कहियत दीन दयाल।
> आपन जाय मुकति मे बैठे, हम जु रुलत जग जाल ॥
> तुमरो नाम जपं हम नीके, मनवच तीनों काल।
> तुम तो हमको कछु देत नहिं, हमरो कौन हवाल ॥
> बुरे भले हम भगत तिहारे जानत हौं हम चाल।
> और कछु नहिं यह चाहत हैं, राग द्वेष को टाल ॥
> हम सौं चूक परी सो बक्सो, तुम तो कृपा विशाल।
> द्यानत एक बार प्रभु जगतैं, हमको लेहु निकाल ॥[2]

एक अन्यत्र स्थान पर कवि का उपालम्भ देखिये जिसमें वह उद्धार किये गये व्यक्तियों का नाम गिनाता है और फिर अपने इष्ट को उलाहना देता है कि मेरे लिए आप इतना विलम्ब क्यों कर रहे हैं—

> मेरी बेर कहा ढील करी जी।
> सूली सौं सिंहासन कीना, सेठ सुदर्शन विपति हरी जी ॥
> सीता सती अगनि मे बैठी पावक नीर करी सगरी जी।
> वारिषेण पै खड्ग चलायो, फूल माल कीनी सुथरी री।
> द्यानत मैं कछु जांचत नाहीं, कर वैराग्य दशा हमरी जी ॥[3]

इस प्रकार प्रपत्ति भावना के सहारे साधक अपने आराध्य परमात्मा के सान्निध्य में पहुंचकर तत्तद्गुणों को स्वात्मा में उतारने का प्रयत्न करता है। इसमें श्रद्धा और प्रेम की भावना का अतिरेक होने के फलस्वरूप साधक अपने

1. वही, पृ. 109
2. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 114-15
3. धर्मविलास, 54 वा पद

आराध्य के रंग में रंगने लगता है। तद्रूप हो जाने पर उसका दुविधाभाव समाप्त हो जाता है और समरस भाव का प्रादुर्भाव हो जाता है। यहीं सांसारिक दुःखों से त्रस्त जीव शाश्वत की प्राप्ति कर लेता है।

निर्गुण सन्तों ने भी प्रपत्ति का आंचल नहीं छोड़ा। वे भी 'हरि न मिलै बिन हिरदै सूख'[1] जैसा अनुभव करते हैं और दृढ़ विश्वास के साथ कहते हैं— 'अब मोही राम भरोसों-तेरा, और कौन का करौं निहोरा'।[2] कबीर और तुलसी आदि सगुण भक्तों के समान द्यानतराय को भगवान में पूर्ण विश्वास है- 'अब हम नेमि जी को शरण और ठौर न मन लगता है, छांडि प्रभ के शरन'।[3] इस प्रकार प्रपत्त भावना मध्यकालीन हिन्दी जैन और जैनेतर काव्य में समान रूप से प्रवाहित होती रही है। उपालम्भ, पश्चात्ताप, लघुता, समता और एकता जैसे तत्व उनकी भाव भक्ति मे यथावत् उपलब्ध होते हैं।

मध्यकाल मे सहज योगसाधना की प्रवृत्ति संतो मे देखने को मिलती है। इस प्रवृत्ति को सूत्र मानकर द्यानतराय ने भी आत्मज्ञान को प्रमुखता दी। उनको उज्जवल दर्पण के समान निरजन आत्मा का उद्योग दिखाई देता है। वही निर्विकल्प शुद्धात्मा चिदानन्दरूप परमात्मा है जो सहज-साधना के द्वारा प्राप्त हुआ है इसीलिए कवि कह उठता है "देखो भाई आतमराम विराजै।[4] साधक अवस्था के प्राप्त करने के बाद साधक में मन मे दृढ़ता आ जाती है और वह कह उठता है—

अब हम अमर भये न मरेंगे।[5]

आध्यात्मिक साधना करने वाले जैन जैनेतर संतों एवं कवियों ने दाम्पत्य-मूलक रति भाव का अवलम्बन परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिए लिया है। इसी सदर्भ मे आध्यात्मिक विवाहों और होलियों की भी सर्जना हुई है। द्यानतराय ने भी ऐसी ही आध्यात्मिक होलियों का सरस चित्रण प्रस्तुत किया है। वे सहज बसन्त आने पर होली खेलने का आह्वान करते हैं। दो दल एक दूसरे के सामने खड़े हैं। एक दल में बुद्धि, दया, क्षमारूप नारी वर्ग खड़ा हुआ है और दूसरे दल मे रत्नत्रयादि गुणों से सजा आत्मा पुरुष वर्ग है। ज्ञान, ध्यान-

---

1. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 214
2. वही, पृ. 124
3. हिन्दी पद संग्रह, 140
4. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 114
5. वही, पृ. 114

रूप रंग ताल बांधि बाज बजते हैं, घनघोर अनहद नाद होता है, धर्म रूपी लाल वर्ण का गुलाल उड़ता है, समता का रंग घोल लिया जाता है, प्रश्नोत्तर की तरह पिचकारियां चलती हैं। एक ओर से प्रश्न होता है कि तुम किसकी नारी हो, तो दूसरी ओर से प्रश्न होता है, तुम किसके लड़के हो। बाद में होली के रूप में अष्टकर्मरूप ईंधन को अनुभवरूप अग्नि में जला देते हैं और फलतः चारों ओर शान्ति हो जाती है। इसी चिदानन्द को प्राप्त करने के लिए कवि ने प्रेरित किया है—

आयो सहज बसन्त, खेलैं सब होरी होरा ॥
उत बुधि दया छिमा बहुठाढ़ी,
इत जिय रतन सजे गुन जोरा ॥
ज्ञान ध्यान डफ ताल बजत हैं,
अनहद शब्द होत घन घोरा ॥
धरम सुराग गुलाल उड़त हैं,
समता रंग दुहूं में घोरा ॥[1]........

इसी प्रकार चेतन से समतारूप प्राणप्रिया के साथ "छिमा बसन्त" में होली खेलने का आग्रह करते हैं। प्रेम के पानी में करुणा की केसर घोलकर ज्ञान ध्यान की पिचकारी से होली खेलते हैं। उस समय गुरु के वचन की मृदंग है, निश्चय व्यवहार नय ही ताल हैं, संयम ही इत्र है, विमल व्रत ही चोला है, भाव ही गुलाल है जिसे अपनी झोरी में भर लेते हैं, धरम ही मिठाई है, तप ही मेवा है, समरस से आनन्दित होकर दोनों होली खेलते हैं। ऐसे ही चेतन और समता की जोड़ी चिरकाल तक बनी रहे, यह भावना सुमति अपनी सखियों से अभिव्यक्त करती है—

चेतन खेलौ होरी ॥
सत्ता भूमि छिमा बसन्त में, समता-प्रान प्रिया संग गोरी ॥
मन को मार प्रेम को पानी, तामें करुना केसर घोरी ।
ज्ञान ध्यान पिचकारी भरि भरि, आप में झार होरा होरी ॥
गुरु के वचन मृदंग बजत हैं, नय दोनों डफ ताल टकोरी ॥
संजम अतर विमल व्रत चोला भाव गुलाल भरै भर झोरी ॥
धरम मिठाई तप बहुमेवा, समरस आनन्द अमल कटोरी ॥
द्यानत सुमति कहैं सखियन सों, चिरजीवो यह जुग जुग जोरी ॥[2]

सन्तों ने परमात्मा के साथ भावनात्मक मिलन करने के लिए आध्यात्मिक विवाह किया, मंगलाचार भी हुए और उसके वियोग से सन्तप्त भी हुए। बनारसीदास ने भी परमात्मा की स्थिति में पहुंचाने के लिए आध्यात्मिक विवाह, वियोग

---

1. वही, पृ. 119
2. हिन्दी पदसंग्रह, पृ. 121

और एकरस होकर परमात्मा के रंग मे रंग जाने के लिए होली खेली। संत कवि कबीर आदि अपनी चुनरियों को साहब से रंगवाते रहे और उसे ओढ़कर परमात्मा के रंग में समरस हो गये।[1] ये निर्गुणिया संत आध्यात्मिकता, अद्वैतवाद और रहस्यात्मकता की सीमा मे घिरे हैं। उनकी साधना में विचार और प्रेम का सुन्दर समन्वय हुआ है तथा ब्रह्म जिज्ञासा से वह अनुप्राणित है। कवि द्यानतराय ने भी इसी परम्परा का अवलम्बन लिया है। निर्गुण और सगुण दोनों परम्पराओं को उन्होंने स्वीकारा है।

समूचा हिन्दी जैन साहित्य शान्ता भक्ति से परिपूरित है उसका हर कवि एक ओर परमात्मा का भक्त है तो दूसरी ओर आत्मकल्याण करने के लिए तत्पर भी दिखाई देता है, इस दौर मे वे अपनी पूर्व परम्परा का अनुकरण करते हुए संतो की श्रेणी मे बैठ जाते हैं कविवर द्यानतराय एक उच्च कोटि के साधक भक्त कवि थे। उनका साहित्य सत कवियो की विचारधारा से मेल खाता है। यह बात अवश्य है कि द्यानतराय के साहित्य मे जैनदर्शन के तत्त्व घुले हुए हैं जबकि सन्त अपरोक्ष-रूप से उन तत्त्वो को स्वीकारते हुए नजर आते हैं। द्यानतराय, योगीन्दु, मुनि रामसिंह बनारसीदास, आनन्दघन, भैया भगवतीदास आदि जैसे जैन कवियों की परम्परा लिए हैं। सन्त कवि भी परम्परा से प्रभावित रहे हैं। इस प्रकार जैन और जैनेतर सन्त अपने-अपने दर्शनो की बात करते हुए प्रथक्-प्रथक् दिखाई देते हैं। परन्तु वस्तुत: उनकी विचारधारा के मूल तत्त्व उतने भिन्न नही। द्यानतराय जैसे जैन कवि ने ऐसी ही परम्परा मे घुल-मिलकर अपनी प्रतिभा और साहित्य से सन्त साहित्य को प्रशसनीय योगदान दिया है।

आश्चर्य की बात है कि ऐसे प्रतिभा सम्पन्न कवि का उल्लेख मात्र इसलिए नही किया गया कि वह जैन था। अन्यथा आज उसे अन्य जैनेतर कवियों जैसा स्थान मिल गया होता। रीतिकाल के भोग-विलास और शृंगार भरे वातावरण मे अपनी कलम को अध्यात्मनिरूपण और अहेतुक भक्ति की ओर मोड़ना साधारण प्रतिभा का कार्य नही था। भौतिकता की चकाचौंध मे व्यक्ति अन्धा हो गया था अत: उसे सुमार्ग पर लाने के लिए उन्होने ससार की असारता सिद्ध करते हुए संसारी जीव को अपना कल्याण करने के लिए प्रेरित किया। उनका साहित्य भवसागर से पार उतरने के लिए प्रेरणा स्रोत है। सन्तों ने भी दूषित बाह्य क्रियाकाण्डों के विरुद्ध आवाज उठाकर ससारी जीव को आत्मकल्याण करने की सीख दी थी। इस प्रकार दोनों की वैचारिक विशेषतायें परम्परा से मेल खाती हैं। अत: हिन्दी साहित्य में द्यानतराय जैसे जैन कवियो के योगदान का यथोचित मूल्यांकन करना नितान्त आवश्यक है। इसके बिना हिन्दी साहित्य का इतिहास अधूरा ही कहलायेगा।

---

1. कबीर, पृ. 352–3, धर्मदास, सन्तवाणी संग्रह, भाग 2, पृ. 39, गुलाब-साहब की बानी, पृ. 22.

दूसरे ब्रह्म जयसागर भट्टारक महीचन्द्र के शिष्य थे। उनका काल लगभग 17 वीं सदी का पूर्वार्ध निश्चित किया जा सकता है। उनके सीता हरण, चतुर्विंशति जिन-स्तवन, जिनकुशल सूरि चौपई आदि अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। सीताहरण ग्रन्थ को आद्योपांत पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने यहां विमल सूरि की परम्परा का अनुसरण किया है। काव्य को शायद मनोरंजन बनाने की दृष्टि से इधर-उधर के छोटे आख्यानों को भी सम्मिलित कर दिया है। ढाल, दोहा, त्रोटक, चौपाई आदि छन्दों का प्रयोग किया है। हर अधिकार मे छन्दो की विविधता है काव्यात्मक दृष्टि से इसमें लगभग सभी रसो का प्राचुर्य है। कवि की काव्य कुशलता शृंगार, वीर, शांत, अद्भुत, करुण आदि रसों के माध्यम से अभिव्यञ्जित हुई है। बीच-बीच में कवि ने अनेक प्रचलित संस्कृत श्लोको को भी उद्धृत किया है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से इस ग्रन्थ का अधिक महत्व है 'फोकट' जैसे शब्दों का प्रयोग आकर्षक है। भाषा मे जहां राजस्थानी, मराठी, और गुजराती का प्रभाव है वहीं बुन्देलखण्डी बोली से भी कवि प्रभावित जान पड़ता है। मराठी और गुजराती की विभक्तियों का तो कवि ने अत्यन्त प्रयोग किया है। ऐसा लगता है कि ब्रह्म जयसागर ने यह कृति ऐसे स्थान पर लिखी है जहा पर उन्हे चारो भाषाओ से मिश्रित भाषा का रूप मिला हो। भाषाविज्ञान की दृष्टि से इसका प्रकाशन उपयोगी जान पड़ता है। भाषा विज्ञान के अतिरिक्त मूल-कथा के पोषण के लिए प्रयुक्त विभिन्न आख्यानों का आलेखन भी इसकी एक अन्यतम विशेषता है।

प्रवृत्ति जैन कथा साहित्य

जैन साहित्य का एक विपुल भाग कथा और कोश साहित्य से भरा हुआ है। जैन सिद्धान्तो की व्याख्या करना कथा साहित्य की मूल भूमिका रही है। आगम साहित्य से इन कथाओ को लेकर उनमें लोकतत्व का पुट देकर जैनाचार्यों बड़े-बड़े कथा ग्रंथों का निर्माण सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश हिन्दी आदि भाषाओं में किया है। प्राकृत भाषा मे निबद्ध उपदेशमाला प्रकरण, धर्मोपदेशमाला विवरण, आख्यान मणिकोश, समराइच्च कहा, सिरिवाल कहा, कुवलयमाला, तरंगवई कहा आदि और सस्कृत भाषा में निबद्ध बृहत्कथा कोश, कथाकोश, कथा महोदधि, वसु-कथाकोश, पुण्याश्रवकथाकोश, धर्म परीक्षा, उपमिति भवप्रपच कथा, भविष्यदत्त कथा आदि सैकड़ो ग्रंथ हैं जो भाषा, शैली आदि की दृष्टि से बड़े प्रभावक कहे जा सकते हैं। इन्हीं का आधार लेकर हिन्दी मे भी कथा साहित्य का सृजन हुआ है। यहां हम ऐसी कथाओं में सुगंधदशमी कथा को उदाहरण के तौर पर प्रस्तुत कर रहे हैं जिसमें जीवन पद्धति को आध्यात्मिकता की ओर मोड़ने के लिए श्रद्धा, भक्ति के माध्यम से नया आयाम खोजा गया है।

जीवन रहस्य की अभिव्यक्ति है। रहस्य की गहनता जीवन की गहनता है। उस रहस्य के अन्तस्तल तक पहुंचना गृहस्थ-श्रावक के लिए साधारणतया दुष्कर-सा है। अत: उसे सहजता पूर्वक जानने के लिए कथात्मक-तत्त्व का माध्यम अपना लिया जाता है। ससार में जितनी लोक कथाये व अनुभूतियाँ उपलब्ध हैं, वे सभी जीवन के वैविध्य को समझने के मात्र साधन हैं। सुगन्ध दशमी कथा का भी क्रम इसी उपक्रम का एक सूत्र है।

जीवन विषमता का अथाह समुद्र है। उस विषमता मे भी यह जीव समता, सहजता और सुखानुभूति का रसास्वादन कर दु:खानुभूति से मुँह मोड़ना चाहता है दु:ख की काली बदली से, सुख के उज्ज्वल-प्रकाश की उपलब्धि मानता है और उसे ही शाश्वत सत्य की प्रतिष्ठापना स्वीकारता है। इस चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए तथा आगत बाधाओ को तिरोहित करने के लिए अदृष्ट शक्ति की उपासना करने में प्रवृत्त होता है। उस प्रतीक की ओर उसका आकर्षण बढ़ने लगता है। माध्यम मिलते ही उसके साथ अनेक कथाओं के रूप स्वभावत: जुड़ जाते हैं।

परम्परानुसार सुगन्ध दशमी कथा स्वोपार्जित कर्मों से विमुक्त होने का मार्ग है। प्रत्येक कथा की तरह इसे भी श्रेणिक के प्रश्न व गौतम के उत्तर से सम्बद्ध किया गया है। सुगन्ध दशमी व्रत के पालन के सन्दर्भ मे गौतम के मुख से कथा कहलाई गई है। यह आख्यान प्रख्यात है। लेखको ने प्राय: एक ही ढाँचे में इस कथा को ढाला है। भिन्न-भिन्न लेखको व कवियो ने इसे अपनी लेखनी का विषय बनाया है। डॉ हीरालाल जी जैन ने अपभ्रंश, सस्कृत, हिन्दी, मराठी व गुजराती में उपलब्ध इस कथा को प्रकाशित कराया है। तिगोड़ा व शाहगढ़ से प्राप्त गुटकों में प्रकाशित सुगन्ध दशमी कथा के अतिरिक्त प्राकृत व संस्कृत में और भी अन्य कवियों द्वारा लिखी यह कथा मिली है। उन्हें भी प्रकाशित करने का प्रयत्न कर रही हूँ। अन्य अप्रकाशित साहित्य को खोजने से संभव है कि कथा के अन्य रूप भी मिल जायें।

वाराणसी (काशी) का राजा पद्मनाभ और उनकी महिषी श्रीमति सुखोपभोग पूर्वक यौवन का आनन्द लेते हुए काल-यापन कर रहे हैं। वसन्त ऋतु के आगमन पर दम्पति वसन्त लीला के लिए नगर के बाहर निर्मित उद्यान में जाते हैं। इसी प्रसंग मे कोकिल ध्वनि को वसन्त रूपी नट और उसी के मुँह से रस, चर्चरी नृत्य व काव्य का रूप माना गया है। (1.5[1])

---

1. प्रस्तुत प्रसंग में दिये गये उद्धरण डॉ. हीरालाल जी जैन द्वारा सम्पादित व अनूदित, अपभ्रंश की सुगन्धदशमी कथा से लिए गये हैं।

वसन्त क्रीड़ा के निमित्त जाते समय मार्ग में ही जैन मुनि का दर्शन होता है। फलतः राजा अपनी श्रीमति को मुनि आहार की व्यवस्था करने पर वापिस भेज देता है। श्रीमति मुनि के इस आगमन को वसन्त लीला में विघ्न मानती है और क्रोधाविष्ट होकर उन्हें विषाक्त दुर्गन्धित कटु भोजन करा देती है। ज्ञात होने पर भी शान्त भाव से मुनि उस भोजन को ग्रहण करते हैं। और थोड़े समय बाद काल कवलित हो जाते हैं (1.5)। श्रीमति के मन पर इसका दुष्प्रभाव पड़ता है और उसके शरीर में असहनीय दुर्गन्ध का संसर्ग यहीं से प्रारम्भ हो जाता है।

राजा पद्मनाभ श्रीमती को देश-निष्कासन का दण्ड देता है। विविध दुःखों का संभार लिये हुए रानी श्रीमती मरकर भैंस की योनि पाती है। उससे बाद क्रमशः सूकरी, सांभरी व चाण्डालिनी होती है। इन सभी जन्मों में उसने दुर्गन्धित शरीर पाया और मुनि अथवा मुनि के जीव पर क्रोध व्यक्त किया।

चाण्डालिनी योनि में जन्मी यह बालिका (श्रीमति) अत्यन्त दुर्गन्धित होने के कारण एक अटवी में छोड़ दी जाती है। प्रसंग वशात् उसे एक जैन मुनि के दर्शन होते हैं। वे उसे दश धर्मों के पालन का उपदेश देते हैं और इसी व्रत के उपदेश को दुर्गन्ध से मुक्त होने का एक मात्र मार्ग बताते हैं। अनन्तर धार्मिक जीवन व्यतीत करती हुई वहां से च्युत होकर उज्जैन में एक दरिद्र ब्राह्मण के घर कुरूपिणी पुत्री के रूप में जन्म लेती है (1.7) पर वहां भी दुर्गन्ध उसका पीछा नहीं छोड़ती। उन्हीं मुनिराज को देख कर उसे जन्मान्तर का स्मरण हो जाता है और मूर्छित हो जाती है। मुनि उसे गोरस से सिंचित कर सचेत करते हैं। वहां श्रीमति के मुख से ही पूर्व भवों का विवरण दिया गया है (1.9)।

उज्जैन के राजा ने मुनिराज से इस कारुण्य दुःख से विमुक्त होने का मार्ग पूछा और उत्तर में मुनि ने सुगन्ध दशमी व्रत पालन करने का विधान बताया। इसके बाद यहीं पर चमत्कृति लाने के निमित्त से विद्याधर की एक छोटी अवान्तर कथा का भी प्रसंग उपस्थित किया गया है। (1.10–12)

सुगन्धदशमी व्रत का पालन करने से दुर्गन्धा-कुरूपिनी ब्राह्मण-पुत्री मरकर रत्नपुर नगरी के श्रेष्ठीवर्य जिनदत्त के घर पुत्री तिलकमती हुई। उसका शरीर अत्यंत रूपवान् और सुगन्धित था। परन्तु मुनि-कोप का दण्ड अभी भी भोगना शेष था। तिलकमती की माता का देहावसान हुआ। जिनदत्त ने पुनर्विवाह किया। उससे तेज-मती नाम की पुत्री हुई।

जिनदत्त को रत्न-क्रय के सम्बन्ध में रत्नपुरी के राजा कनकप्रभ ने देशान्तर भेजा। इधर सौतेली माता के बाधात्मक प्रयत्न के बावजूद तिलकमती का विवाह निश्चित हो गया। ईर्ष्यावशात् सौतेली माता ने छलपूर्वक उसे श्मशान में भेजा और कहा कि हे पुत्री! तेरा श्रेष्ठ वर यहीं आकर तुमसे विवाह करेगा–"अच्छउ को इह वरु पसत्थु, परिणावहि अप्पुणु पुत्ति एत्थु।" यह कहकर तिलकमती के चारों

और चार दीपक और चार कलश रख दिये। रात्रि में अपने सौधप्रासाद से राजा कनकप्रभ ने उसे देखा और सब कुछ समझकर वहीं उससे विवाह किया और एक रात सहवास भी किया। बाद में अपना परिचय देकर वापिस चला और पुनः आकर उसकी समूची व्यवस्था कर दी (2.3)।

इधर तिलकमती की सौतेली माता ने उसके चरित्र पर दोषारोपण किया और किसी चोर से उसे विवाहित बताया। इसी बीच जिनदत्त आ पहुंचे। तिलकमती की परीक्षा के निमित्त राजा ने भोजन का आयोजन किया और उसमें अपने पति को पहचानने का तिलकमती को आदेश दिया। पद प्रक्षालन के माध्यम से तिलकमती ने अपनी बन्द आंखों से कनकप्रभ राजा को अपने पति रूप में पहचान लिया और कहा—यही वह चोर है जिसने मुझसे विवाह किया है, अन्य कोई नहीं "इहु चोरु वि जे हउ परिणियाय, गउ अण्णु होइ इम जंपियाय" (2.5) इसके बाद आयोजन समाप्त हुआ और नव दम्पत्ति को जिन मन्दिर दर्शनार्थ ले जाया गया। वहां मुनि दर्शन हुए जो उन्हें उनके पूर्व भवान्तरों का स्मरण करा रहे थे।

इस कथा मे सुगन्धदशमी व्रत के पालन की प्रक्रिया इस प्रकार दी हुई है। भाद्रपद शुक्ल पंचमी के दिन उपवास करना चाहिए और उस दिन से प्रारम्भ कर पांच दिन अर्थात् भाद्रपद शुक्ल नवमी तक कुसुमांजलि चढ़ाना चाहिए। कुसुमांजलि में फलस, बीजपुर, फोफल, कूष्माण्ड, नारियल आदि नाना फलों तथा पंचरंगी और सुगन्धी फूलों तथा महकते हुए उत्तम दीप, धूप आदि से खूब महोत्सव के साथ भगवान का पूजन किया जाता है। इस प्रकार पांच दिन नवमी तक पुष्पाञ्जलि लेकर फिर दशमी के दिन जिन-मन्दिर में सुगन्ध द्रव्यों द्वारा सुगन्ध करना चाहिए और उस दिन आहार का भी नियम करना चाहिए। उस दिन या तो प्रोसध करे, और यदि सर्व प्रकार के आहार का परित्याग रूप पूर्ण उपवास न किया जा सके, तो एक बार मात्र भोजन का नियम तो अवश्य पाले। रात्रि को चौबीस जिन भगवान का अभिषेक करके दश बार दश पूजन करना चाहिए। एक दशमुख कलश की स्थापना करके उसमें दशांगी रूप खेना चाहिए। कुंकुम आदि दश द्रव्यों सहित जिन भगवान की पवित्र पूजा स्तुति करना चाहिए। पुनः अक्षतों द्वारा दश भागों में नाना रंगों से विचित्र सूर्य मण्डल बनाना चाहिए उस मण्डल के दश भागो मे दश दीप स्थापित करके उसमे दश मनोहर फल और दश प्रकार नैवेद्य चढ़ाते हुए दश बार जिन भगवान की स्तुति-वन्दना करना चाहिए। इस प्रकार की विधि हर्ष पूर्वक मन वचन काय से पांचों इन्द्रियों की एकाग्रता सहित प्रति वर्ष करते हुए दश वर्ष तक करना चाहिए (1.11)

इस व्रत की उद्यापन विधि इस प्रकार दी हुई है। जब सुगन्धदशमी व्रत को विधि पूर्वक पालन करते हुए दश वर्ष हो जायें तब उस व्रत का उद्यापन करना चाहिए। मन्दिर जी में जिन भगवान का अभिषेक पूजन करना चाहिए। समस्त

जिन मन्दिर को पहले मनोहर पुष्पों से सजाना चाहिए, आंगन में चंदोवा तानना चाहिए, ध्वजाएँ फहराना चाहिए और मनोहर तोरणें भी लटकाना चाहिए। मन्दिर जी को घण्टा चामरों की जोड़ी, धूपदानी, आरती, दश पुस्तकें और दश वस्त्र भी चढ़ाना चाहिए तथा व्यक्तियों को औषधिदान देना चाहिए। जो व्रतधारी ब्रह्मचारी आदि श्रावक हों उन्हें दश धोतियाँ और दश प्राच्छादनक का दान करना चाहिए। फिर दश मुनियों को षट्रस युक्त पवित्र आहार देना चाहिए। दश कटोरियां पवित्र खीर और घी से भर कर दश श्रावकों के घरों में देना चाहिए। यदि इतना विधान करना या दान देना अपनी शक्ति के बाहर हो तो थोड़ा दान करना चाहिए। नाना स्वर्गों की प्राप्ति की जो नाना कहानियां कही जाती हैं, उनके समान ही इस व्रत के पालन करने से भी अत्यंत पुण्य की प्राप्ति होती है (1.12)।

सुगन्धदशमी कथा की भूमि कर्मों के विनाश की युक्ति पर टिकी हुई है। इसलिए इसका उद्देश्य भी कर्मों का खण्डन करना और सांसारिक दुःखों को छोड़कर उत्तम स्वर्गादि सुखों का अनुभव प्राप्त करना है। सुगन्ध दशमी व्रत का पालन मन में अनुराग सहित करना चाहिए। इससे कलिकाल के मल का अपहरण होता है और जीव अपने पूर्व में किये हुए पापों से मुक्त होता है (2.1)।

सुगन्धदशमी व्रत के फल मे दृढ़ता लाने के लिए एक अन्य कथान्तर का सर्जन किया। गया मुनिराज सुगन्ध कन्या के पूर्व भवों का कथन करते समय एक देव अवतरित हुआ उसने स्वयं का अनुभव बताया कि उसने सुगन्धदशमी व्रत के प्रसाद से अमरेन्द्र पद पाया (2.6)।

कथा का उपसंहार करते समय भी इसका फल संदर्शन किया गया है। (2 8.9)

इस कथा को मौलिक आधार व विकस के सन्दर्भ में डॉ. जैन सा. ने सुगन्धदशमी कथा की प्रस्तावना में पर्याप्त प्रकाश डाला है। प्राकृतिक और दिव्य शक्तियों से बचने के उपाय ऋग्वेद काल के पूर्व से ही मनुष्य करता आ रहा है। महाभारत का मत्स्यगन्धा कथानक सुगन्धदशमी कथा का प्रेरक सूत्र रहा होगा। वैदिक और जैन ऋषियों, मुनियों की प्रवृत्तियों एवं साधनाओं में जो मौलिक अन्तर है उसका प्रभाव कथानकों के मानस पर भी पड़े बिना नहीं रहता। सुगन्धदशमी कथा में भी एक परिवर्तन स्पष्ट दिखाई पड़ता है। नायाधम्मकुहाओ के सोलहवें अध्ययन में नाग श्री द्वारा मुनि को कडु तुम्बी का आहारदान देना और उसके फलस्वरूप अनेक जन्मों में दुःख पाना भी इस प्रकार की कथा है, इसी तरह हरिभद्रसूरि (750 ई.) की सावयपण्णत्ति, जिनसेन (शक सं. 707-785) का हरिवंश पुराण, हरिषेण का बृहत् कथा कोश, श्रीचन्द्र का अपभ्रंश कथा कोश तथा अन्य अप्रकाशित ग्रंथों में

वर्णित कथानक भी सुगन्ध दशमी कथा जैसी भाव भूमि पर स्थापित किए गये हैं। इन सभी कथानकों मे मुनि निन्दा और उनका फल विशिष्ट प्रतिपाद्य विषय है। सम्भव है, ये कथानक मुनियों के प्रति श्रद्धाभाव जाग्रत रखने, निन्दा जनक कार्यों से दूर रहने और जैन धर्म के प्रति अनुराग आसक्ति पूर्वक आत्मोद्धार की दृष्टि से निर्मित किये गये हैं। यहां पूजा विधान का विकास भी दृष्टव्य है।

कथानक का प्रारम्भ वाराणसी (काशी) के वर्णन से होता है। पाठक की जिज्ञासा अन्त तक बनी रहती है कि श्रीमती का जीव कहां और कैसे गया। कथा में संघर्ष और चरम सीमा तथा उपसंहार भी दिया गया है। कथा वस्तु अर्ध-ऐतिहासिक-पौराणिक प्रख्यात है। पात्र व चरित्र साधारणतः ठीक है। वर्तमान में प्रचलित कहानी के तत्व इस कथा में किसी न किसी रूप मे उपलब्ध हो जाते हैं परन्तु वे इतने सशक्त नहीं कि उनकी तुलना कहानियों से की जा सके। पौराणिक आख्यानों के तत्व अवश्य ही इस कथा मे शत-प्रतिशत निहित हैं। उद्देश्य व शैली मनोहारी है।

इस प्रकार सुगन्धदशमी कथा के विश्लेषण से स्पष्ट है कि वह मानव के आत्म कल्याण की पृष्ठभूमि मे स्थापित की गई है और उसका महत्व जीवन में सामाजिक, धार्मिक, नैतिक और लौकिक दृष्टि से उत्कृष्ट है।

कोश लेखन प्रवृत्ति

किसी भाषा और उसमें रचित साहित्य का सम्यक् अध्ययन करने के लिए तत्सम्बद्ध कोशो की नितान्त आवश्यकता होती है। वेदों और संहिताओं को समझने के लिए निघण्टु और निरुक्त जैसे कोशों की रचना इसीलिए की गई कि जनसाधारण उनमें सन्निहित विशिष्ट शब्दों का अर्थ समझ सके। उत्तरकाल में इसी आधार पर संस्कृत, पालि और प्राकृत के शब्दकोशों का निर्माण आचार्यों ने किया। अमरकोश, विश्वलोचनकोश, नाममाला, अभिधानप्पदीपिका, पाइयलच्छी नाममाला आदि जैसे अनेक प्राचीनकोश उपलब्ध हैं। इनमें कुछ एकाक्षर कोश हैं और कुछ अनेकार्थक शब्दों को प्रस्तुत करते हैं। कुछ देशी नाममाला जैसे भी शब्दकोश है, जो देशी शब्दों के अर्थ को प्रस्तुत करते हैं।

इसी प्रकार की अन्य व्रत कथायें भी उपलब्ध हैं जिनका विश्लेषण जैनधर्म के क्रियाकाण्ड के विकासात्मक इतिहास को प्रतिबिम्बित करता है। यह साहित्य प्रायः मध्यकालीन है।

1. अभिधानराजेन्द्रकोश

इस कोश के निर्माता श्री विजय राजेन्द्र सूरि का जन्म सं. 1883, पौष शुक्ल सप्तमी, गुरुवार (सन् 1829) को भरतपुर में हुआ। आपकी बाल्यावस्था का नाम रत्नराज था, पर सं. 1903 में स्थानकवासी सम्प्रदाय में दीक्षित होने पर रत्न विजय हो गया। बाद में उन्होंने व्याकरण, दर्शन आदि का अध्ययन किया। सन् 1923 मे वे मूर्ति पूजक सम्प्रदाय में दीक्षित हुए और विजय राजेन्द्र सूरि के नाम की आचार्य पदवी प्राप्त की। उन्होंने अनेक मन्दिर बनवाये और उनकी प्रतिष्ठाएँ करायीं। वे अच्छे प्रवक्ता और शास्त्रार्थ कर्ता थे। उपाध्याय बालचन्द जी से उनका शास्त्रार्थ हुआ और वे विजयी हुए। आपकी विद्वत्ता के प्रमाण स्वरूप आपके अनेक ग्रंथ हैं जिनमें अभिधान राजेन्द्र कोश, उपदेश रत्न सार, सर्वसंग्रह प्रकरण, प्राकृत व्याकरण विवृत्ति, शब्द कौमुदी, उपदेश रत्न सार, राजेन्द्र सूर्योदय आदि प्रमुख हैं। उनके ग्रन्थों से उनकी विद्वत्ता स्पष्ट रूप से झलकती है। श्री सूरि का अन्त काल 31 दिसम्बर सन् 1906 मे राजगढ़ में हुआ।

अभिधान राजेन्द्र कोश के लेखक विजय राजेन्द्र सूरि ने जैन साहित्य के अध्ययन-अध्यापन के दौरान यह अनुभव किया कि एक ऐसा जैन-आगम कोश होना चाहिए जो समूचे जैन दर्शन को अकारादि क्रम से संयोजित कर सके। लेखक ने अपने कोश ग्रन्थ की भूमिका मे लिखा है कि "इस कोश मे अकारादि क्रम से प्राकृत शब्द, बाद में उनका संस्कृत में अनुवाद, फिर व्युत्पत्ति, लिंग निर्देश तथा जैन आगमों के अनुसार उनका अर्थ प्रस्तुत किया गया है। लेखक का दावा है कि जैन आगम का ऐसा कोई भी विषय नहीं रहा जो इस महाकोश मे न आया हो। केवल इस कोश के देखने से ही सम्पूर्ण जैन आगमो का बोध हो सकता है। इसकी श्लोक संख्या साढ़े चार लाख है और अकारादि वर्णानुक्रम से साठ हजार प्राकृत शब्दों का संग्रह है।"[1]

लेखक के ये शब्द स्पष्ट संकेत करते हैं कि उनका उद्देश्य इसे सही अर्थ में महाकोश बनाने का था। इस महाकोश के मुख्य पृष्ठ पर लिखा है—

श्री सर्वज्ञप्रज्ञपित गणधर निर्वतिताऽद्य श्रीनोपोलभ्यमानाऽशेष—सूत्रवृत्ति–भाष्य—निर्युक्ति चूर्ण्यादि निहित सकल दार्शनिक—सिद्धान्तेतिहास—शिल्प—वेदान्त—न्याय—वैशेषिक—मीमांसादि—प्रदर्शित पदार्थ युक्तायुक्तत्वनिर्णायक:। बृहद् भूमिको—रोद्घात—प्राकृतव्याकृति—प्राकृत शब्द रूपावल्यादिपरिशिष्ट-सहित:।

---

1. अभिधान राजेन्द्रकोश, भूमिका, पृ. 13.

इससे पता चलता है कि कोशकार द्वारा इसमें प्राकृत-जैन आगम, वृत्ति, भाष्य, निर्युक्ति, चूर्णि, आदि में उल्लिखित सिद्धान्त, इतिहास, शिल्प, वेदान्त, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा आदि का संग्रह किया गया है। इसका प्रकाशन जैन प्रभाकर प्रिंटिंग प्रेस रतलाम से सात भागों में हुआ। इसकी भूमिका में लिखा है कि "इस कोश में मूलसूत्र प्राचीन टीका, व्याख्या तथा ग्रंथान्तरों में उसका उल्लेख दर्शाया गया है। यदि किसी भी विषय पर कथा भी उपलब्ध है तो उसका भी उल्लेख है। तीर्थ और तीर्थंकरों के बारे में भी लिखा गया है।"[1] यह महाकोश यद्यपि सात भागों में समाप्त हुआ है परन्तु भूमिका में चार भागो की ही विषय सामग्री का उल्लेख है। इसे हम संक्षेप में इस प्रकार देख सकते हैं—

1. प्रथम भाग—अ वर्ण	पृष्ठ 894	प्रकाशन काल सन् 1910
2. द्वितीय भाग—आ से ऊ वर्ण तक	,, 1178	सन् 1913
3. तृतीय भाग—'ए' से 'क्ष' वर्ण तक	,, 1364	सन् 1914
4. चतुर्थ भाग—'ज' से 'न' वर्ण तक	,, 2778	सन् 1917
5. पंचम भाग—'प' से 'भ' वर्ण तक	,, 1636	सन् 1921
6. षष्ठ भाग—'म' से 'व' वर्ण तक	,, 1466	सन् 1923
7. सप्तम भाग—स से ह वर्ण तक	,, 1244	सन् 1925

इन सातों भागों के प्रकाशन में लगभग पन्द्रह वर्ष लगे और कुल 10460 पृष्ठों में यह महाकोश समाप्त हुआ। इसमें अच्छेर, अहिंसा, आगम, आधाकम्म, आयरिय, आलोयणा, ओगाहणा, काल, क्रिया, केवलिपण्णति, गच्छ, चारित्त, चेइय, जोग तित्थंयर, पवज्जा, रओहरण, वत्थ, वसहि, विहार, सावय, हेउ, विनय, सद्-पट्टावलि, पच्चक्खाण, पडिलेहरणा, परिसह, बंधण, भावणा, मरण मूलगुण, मोक्ख, लोग, वत्थ, वसहि, विणय, वीर, वेयावच्च, संखडि सच्च, सामाइय इत्यादि जैसे मुख्य शब्दों पर विशेष विचार किया है। इसी तरह अचल, अज्जचन्दणा, अणुवेवधर, अभयदेव, अरिट्ठनेमि, आराहणा, इलावत्त, इसिभद्दपुत्त, उदयण कार्कदिय, कासीराज, चक्कदेव, दयपेत, धणसिरि धणवइ, मूलदत्त, मूलसिरी, मेहघोस रहनेमि, रोहिणी, समुद्दपाल, विजयसेन, सीह, सावत्थी, हरिभद्द आदि जैसी महत्वपूर्ण कथाओं का विस्तार से उल्लेख किया गया है।

यह महाकोश अवश्य है परन्तु महाकोश के प्रयोजन का सिद्ध नहीं कर पाता। प्रथम तो इसे हम मोटे रूप में अर्धमागधी महाकोश कह सकते हैं जिसमें अर्धमागधी

---

1. वही।

प्राकृत जैन आगमों को छोड़कर शेष प्राकृत साहित्य का उपयोग नहीं किया गया, और दूसरी बात यह है कि यह मात्र उद्धरणकोश बन गया। ये उद्धरण इतने लम्बे रख दिये कि पाठक देखकर ही घबड़ा जाता है। कहीं-कहीं तो ग्रन्थों के समूचे भाग प्रस्तुत कर दिये हैं। फिर इसके बाद उनका संस्कृत रूपान्तर और भी बोझिल बन गया। पाइयसद्दमहण्णव के लेखक पं. हरगोविन्द दास सेठ ने इसकी जो सटीक आलोचना की है वह इस सन्दर्भ में दृष्टव्य है।

"परन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि इसमें कर्ता की सफलता की अपेक्षा निष्फलता ही अधिक मिली है और प्रकाशक के धन का अपव्यय ही विशेष हुआ है। सफलता न मिलने का कारण भी स्पष्ट है। इस ग्रंथ को थोड़े गौर से देखने पर यह सहज ही मालूम होता है कि इसके कर्ता को न तो प्राकृत भाषाओं का पर्याप्त ज्ञान था और न प्राकृत शब्दकोश के निर्माण की उतनी प्रबल इच्छा, जितनी जैन दर्शन शास्त्र और तर्क शास्त्र के विषय में अपने पांडित्य प्रख्यापन की धुन। इसी धुन ने अपने परिश्रम का योग दिशा में ले जाने वाली विवेक बुद्धि का भी ह्रास कर दिया है। यही कारण है कि इस कोश का निर्माण केवल 75 से भी कम प्राकृत जैन पुस्तकों के ही, जिनमें अर्धमागधी के दर्शन विषयक ग्रंथों की बहुलता है, आधार पर किया गया है और प्राकृत की ही इतर मुख्य शाखाओं के तथा विभिन्न विषयों के अनेक जैन तथा जैनेतर ग्रंथों में एक का भी उपयोग नहीं किया गया है। इससे यह कोश व्यापक न होकर प्राकृत भाषा का एकदेशीय कोश हो गया है। इसके सिवा प्राकृत तथा संस्कृत ग्रंथों के विस्तृत अंशों को और कहीं-कहीं तो छोटे बड़े सम्पूर्ण ग्रंथ को ही अवतरण के रूप में उद्धृत करने के कारण[1] पृष्ठ संख्या में बहुत बड़ा होने पर भी, शब्द संख्या में ऊन ही नहीं, बल्कि आधारभूत ग्रंथों में आये हुए कई उपयुक्त शब्दों को छोड़ देने से और विशेषार्थहीन अतिदीर्घ सामासिक शब्दों की भर्ती से वास्तविक शब्द संख्या में यह कोश अति न्यून भी है। इतना ही नहीं, इस कोश में आदर्श पुस्तकों की, असावधानी की, और प्रेस की तो असंख्य अशुद्धियां है ही, प्राकृत भाषा के अज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली भूलों की भी कमी नहीं है और सबसे बढ़कर दोष इस कोष में यह है कि वाचस्पत्य, अनेकान्त जय पताका, अष्टक, रत्नाकरावतंसिका आदि केवल संस्कृत के और जैन इतिहास जैसे केवल आधुनिक गुजराती ग्रंथों के संस्कृत और गुजराती शब्दों पर से कोरी निजी कल्पना से ही बनाये हुए प्राकृत शब्दों की इसमें खूब मिलावट की गयी है, जिससे इस कोश की

---

1. जैसे 'चेइय' शब्द की व्याख्या में प्रतिमा-शतक नामक सटीक संस्कृत ग्रंथ को आदि से अंत तक उद्धृत किया गया है। इस ग्रंथ की श्लोक संख्या करीब पांच हजार है।

प्रामाणिकता ही एकदम नष्ट हो गयी है। ये और अन्य अनेक दोषों के कारण साधारण अभ्यासी के लिए इस कोश का उपयोग जितना भ्रामक और भयंकर है, विद्वानों के लिये भी उतना ही क्लेशकर है।"[1]

अभिधान राजेन्द्र कोश के कोशकार विजय राजेन्द्र सूरि तथा दीपविजय और यतीन्द्र विजय हैं। उनके अभिधान राजेन्द्र कोश के सम्बन्ध में पं० की यह आलोचना निःसन्देह अर्थपूर्ण प्रतीत होती है कोश के निर्माण की सार्थकता यहां पूरी नहीं हो सकी। इसके बावजूद इस विशालकाय कोश को बिल्कुल निरर्थक भी नहीं कह सकते। जिस समय इस कोश का निर्माण हुआ है उस समय अर्धमागधी आगमों का प्रकाशन अधिक नहीं हुआ था और जो हुआ भी था वह सभी सुसंपादित नहीं था। अनुसंधाता को एक ही स्थान पर सम्बद्ध विषय की जानकारी मिल जाती है। इस दृष्टि से उसका विशेष उपयोग कहा जा सकता है।

विजय राजेन्द्रसूरि ने एक और कोश लिखा था जिसका नाम उन्होंने शब्दाम्बुधि कोश रखा था परन्तु इसका प्रकाशन नहीं हो सका। इसमें लेखक ने अकारादि क्रम से प्राकृत शब्दों का संग्रह किया था और साथ ही संस्कृत और हिन्दी अनुवाद दिया था किन्तु अभिधान राजेन्द्र कोश की तरह शब्दों पर व्याख्या नहीं की गई।[2] यह कोश कदाचित् अधिक उपयोगी हो सकता था परन्तु न जाने आज वह पांडुलिपि के रूप में कहां पड़ा होगा।

2. अर्धमागधीकोश

इस कोश के रचयिता मुनि रत्नचन्द्र लींबड़ी-सम्प्रदाय के स्थानकवासी साधु थे। उन्होंने जैन-जैनेतर ग्रंथों का अध्ययन कर बहुश्रुत व्यक्तित्व प्राप्त किया था। उनके द्वारा कुछ और भी ग्रंथों की रचना हुई है जिनमें अजरामरस्तोत्र (सं. 1969) भावनाशतपत्रिका (सं. 1970), कर्त्तव्यकौमुदी (सं. 1970), भावनाशतक (सं. 1972), रत्नधर्मालंकार (स. 1973), प्राकृत पाठमाला (सं. 1980), प्रस्तर रत्नावली (सं. 1981), जैनदर्शन मीमांसा (सं. 1983), रेवतीदान समालोचना (सं. 1991), जैन सिद्धान्त कौमुदी (सं. 1994), अर्धमागधी का सटीक व्याकरण प्रमुख हैं।

यह अर्धमागधी कोश मूलतः गुजराती में लिखा गया और उसका हिन्दी तथा अंग्रेजी रूपान्तर प्रीतमलाल कच्छी आदि अन्य विद्वानों से कराया गया। इस कोश

---

1. पाइयसद्दमहण्णव, द्वितीय संस्करण, भूमिका, पृ. 13-14.
2. अभिधान राजेन्द्रकोश, भूमिका, पृ. 13-14.

के रचने में लेखक को मुनि उत्तमचन्द जी, उपाध्याय आत्माराम जी, मुनि माधवजी तथा मुनि देवचन्द्रजी का भी सहयोग मिला। डॉ. बनारसीदास एवं डॉ. बेलवेलकर ने भी इसमें सहयोग दिया। इन सभी विद्वानों के सहयोग से यह कोश इस रूप में प्रकाशित सो सका है। डॉ. वूलर की विस्तृत प्रस्तावना और सरदारमल भण्डारी की विस्तृत अंग्रेजी भूमिका के साथ यह कोश चार भागों में इस प्रकार प्रकाशित हुआ—

भाग 1	'अ' वर्ण	पृ. 612	प्रकाशन काल सन् 1923
भाग 2	'अ' से 'ए' वर्ण तक	पृ. 1002	,, ,, सन् 1927
भाग 3	'त' से 'ब' वर्ण तक लगभग	पृ. 1000	,, ,, सन् 1929
भाग 4	'भ' से ह् वर्ण तक	पृ. 1015	,, ,, सन् 1932

(परिशिष्ट सहित)

इस प्रकार लगभग 3600 पृष्ठो मे यह कोश समाप्त हो जाता है। इसे हम पंच भाषा कोश कह सकते हैं क्योकि यह प्राकृत के साथ ही संस्कृत गुजराती हिन्दी और अंग्रेजी भाषाओ मे रूपान्तरित हुआ है। लगभग सभी शब्दो के साथ यथावश्यक मूल उद्धरणो को भी इसमे सम्मिलित किया गया है। ये उद्धरण संक्षिप्त और उपयोगी हैं। उनमे अभिधान राजेन्द्र कोश जैसी बोझिलता नही दिखती। अभिधान राजेन्द्र कोश की अन्य कमियो को भी यहाँ परिमार्जित करने का प्रयत्न किया गया है। इस कोश में आगम साहित्य तथा आगम से निकटतः सम्बन्ध रखने वाले विशेषावश्यक भाष्य पिंड, निर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति आदि ग्रथो का उपयोग किया गया है। साथ ही शब्द के साथ उसका व्याकरण भी प्रस्तुत किया गया है। अर्धमागधी से अतिरिक्त प्राकृत बोलियो के शब्दों को भी इसमें कुछ स्थान दिया गया है। इसके चारों भागो में कुछ परम्परागत चित्र भी सयोजित कर दिये गये है जिनमे अनुत्तरकावंध विमान, आसन्, ऊर्ध्वलोक, उपशमश्रेणी, कनकावली, कृष्णराजी, कालचक्र, क्षपकश्रेणी, घनरज्जु, घनोदधि, 14 रत्न' चन्द्रमण्डल, जम्बूद्वीप, नक्षत्रमण्डल, भरत, मेरु, लवणसमुद्र लोम, विमाण आदि प्रमुख हैं। इस कोश का सम्पूर्ण नाम An Illustrated Ardha-Magadhi Dictionary है और इसका प्रकाशन S. S. Jaina Conference इन्दौर द्वारा हुआ है।

इस कोश के परिशिष्ट के रूप में सन् 1938 में पचम भाग भी प्रकाशित हुआ। इसमें अर्धमागधी, देशी तथा महाराष्ट्री शब्दो का संस्कृत, गुजराती हिन्दी और अंग्रेजी भाषाओं के अनुवाद के साथ सग्रह हुआ है। परन्तु उनका यहां व्याकरण नहीं दिया जा सका। यह भाग भी लगभग 900 पृष्ठो का है।

मुनि रत्नचन्द्र जी का यह सम्पूर्ण कोश छात्रों और शोधकों के लिए उद्धरण ग्रंथ-सा बन गया है। मुनिजी का जन्म सं. 1936 वैशाख शुक्ल 12 गुरुवार को

कच्छ के मारोरा नामक ग्राम में हुआ। आपका विवाह 13 वर्ष की अवस्था में हुआ और [illegible] 1953 में पत्नी की मृत्यु के बाद उन्होंने मुनि दीक्षा ले ली। इसके बाद [illegible] और प्राकृत ग्रंथों का गहन अध्ययन किया और जीवन के उत्तरकाल में [illegible] का कार्य हाथ में लिया। वे शतावधानी भी थे और तपस्वी भी।

3. पाइय सद्द महण्णव

इस कोश के लेखक पं. हरगोविन्ददास त्रिकमचन्द सेठ का जन्म वि. सं. 1945 में राधनपुर (गुजरात) में हुआ। उनकी शिक्षा-दीक्षा प्रमुख रूप से यशोविजय जैन पाठशाला, वाराणसी मे हुई। यही रहकर उन्होंने संस्कृत और प्राकृत भाषा का अध्ययन किया। प. बेचरदास दोसी उनके सहाध्यायी रहे हैं। दोनों विद्वान् पालि का अध्ययन करने श्रीलंका भी गये और बाद में वे संस्कृत, प्राकृत और गुजराती के प्राध्यापक के रूप मे कलकत्ता विश्वविद्यालय में नियुक्त हुए। न्याय-व्याकरणतीर्थ होने के कारण जैन-जैनेतर दार्शनिक ग्रंथों का गहन अध्ययन हो चुका था। यशोविजय जैन ग्रंथमाला से उन्होने अनेक संस्कृत-प्राकृत ग्रंथो का संपादन भी किया। लगभग 52 वर्ष की अवस्था मे ही सं. 1997 मे वे कालकवलित हो गये। अपने इस अल्पकाल में ही उन्होने अनेक ग्रंथों का कुशल सम्पादन और लेखन किया।

सेठजी के ग्रंथो में पाइयसद्द महण्णव का एक विशिष्ट स्थान है। उसकी रचना उन्होने सम्भवत: अभिधान राजेन्द्रकोश की कमियो को दूर करने के लिए की। जैसा हम पीछे लिख चुके है, सेठजी ने उपर्युक्त ग्रंथ की मार्मिक समीक्षा की और उसकी कमियो को दूर कर नये प्राकृत कोश की रचना का संकल्प किया उन्होंने स्वयं लिखा है—"इस तरह प्राकृत के विविध भेदों और विषयों के जैन तथा जैनेतर साहित्य के यथेष्ट शब्दो से संकलित, आवश्यक अवतरणों से युक्त, शुद्ध एव प्रामाणिक कोश का नितान्त अभाव बना रहा है। इस अभाव की पूर्ति के लिए मैंने अपने उक्त विचार को कार्य रूप में परिणत करने का दृढ़ संकल्प किया और तदनुसार शीघ्र ही प्रयत्न भी शुरू कर दिया गया। जिसका फल प्रस्तुत कोश के रूप में चौदह वर्षों के कठोर परिश्रम के पश्चात् आज पाठकों के सामने उपस्थित है।"[1]

लेखक के इस कथन से यह स्पष्ट है कि कोश के तैयार करने में उन्होंने पर्याप्त समय और शक्ति लगायी। प्रकाशित संस्करणों को शुद्ध रूप में अंकित करने का एक दुष्कर कार्य था, जिसे उन्होने पूरा किया। इतना ही नहीं, बल्कि उन्होंने इस बृहत्काय कोश का सारा प्रकाशन-व्यय भी स्वय उठाया। कोशकार ने आधुनिक

---

1. पाइयसद्दमहण्णव, भूमिका, द्वितीय संस्करण, पृ. 14.

ढंग से लगभग 50 पृष्ठ की विस्तृत प्रस्तावना भी लिखी, जिसमें प्राकृत भाषाओं का इतिहास तथा भारतीय भारतीय भाषाओं के विकास में उनके योगदान की विशेष चर्चा की। इस ग्रन्थ के निर्माण में उन्होंने लगभग 300 ग्रंथों [illegible] किया जो प्रायः श्वेताम्बर सम्प्रदाय से सम्बद्ध हैं। लगभग प्रत्येक [illegible] किसी ग्रंथ का प्रमाण भी दिया गया है। इस दृष्टि से यह कोश अधिक उपयोगी हो सका है। एक शब्द के जितने सम्भावित अर्थ हो सकते हैं उनका भी कोशकार ने उल्लेख किया है। संदिग्ध पाठ को कोष्ठक में प्रश्नचिह्न के साथ प्रस्तुत किया गया है। यह व्यवस्था उनकी विद्वत्ता और सावधानता को सूचित करती है।

पुरातन जैन वाक्य सूची

प्रस्तुत ग्रंथ के सम्पादक श्री जुगलकिशोर मुख्तार प्राचीन जैन विद्या के प्रसिद्ध अनुसन्धाता रहे हैं। उन्होने वीर सेवा मन्दिर जैसे शोध-संस्थान और उसके अनेकान्त जैसे शोध पत्र की स्थापना और उसका सम्यक् संचालन कर जैन विद्या के अनुसंधान क्षेत्र में महत्वपूर्ण योग दिया है। श्री मुख्तार स्वयं भी एक विशिष्ठ समीक्षक रहे हैं। उन्होंने अपनी अवस्था के लगभग 50 वर्ष इसी कार्य में व्यतीत किये हैं। उनके ग्रंथो में स्वयंभूस्तोत्र, स्तुति-विद्या, युक्त्यनुशासन, समीचीन धर्मशास्त्र, अध्यात्मरहस्य, जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, देवागम स्तोत्र आदि सम्पादित और अनुवादित ग्रंथ तथा शताधिक शोध-निबंध शोधकों के लिए मार्गदर्शक बने हुए हैं।

पुरातन-जैन वाक्य सूची वस्तुत: एक ढंग का कोश ग्रन्थ है, जिसमें 64 मूल ग्रन्थों के प्राद्य-वाक्य की अकारादिक्रम से सूची है। इसी में 48 टीकादि ग्रंथों में उद्-धृत प्राकृत-पद्य भी संगृहीत कर दिये गये हैं। कुल मिलाकर पच्चीस हजार तीन सौ बावन प्राकृत-पद्यों की अनुक्रमणिका के रूप इस ग्रन्थ को तैयार किया गया है। इसके आधारभूत ग्रंथ विशेषत: दिगम्बर सम्प्रदाय के हैं। जहां-तहां आचार्य 'उक्तं च' लिखकर अपने पूर्वाचार्यों के पद्यों का उल्लेख करते रहे हैं जिनका खोजना कभी-कभी कठिन हो जाता है। इस दृष्टि से यह ग्रंथ शोधकों के लिए अत्यधिक उपयोगी बन जाता है। इसके सम्पादन में डॉ. दरबारीलाल कोठिया और पं. परमानन्द शास्त्री ने विशेष सहयोग दिया है। इसका प्रकाशन वीरसेवा मन्दिर से सन् 1950 में हुआ। इस ग्रंथ की प्रस्तावना 168 पृष्ठ की है, जिसमें मुख्तार सा. ने सम्बद्ध ग्रन्थों और आचार्यों के समय और उनके योगदान पर गम्भीर चिंतन प्रस्तुत किया है।

जैनग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह

इसका दो भागों में वीर सेवा मन्दिर से प्रकाशन हुआ है। प्रथम भाग का सम्पादन पं. परमानन्दजी के सहयोग से श्री जुगलकिशोर मुख्तार ने सन् 1954

में किया। इसमें संस्कृत-प्राकृत भाषाओं के 171 ग्रन्थों की प्रशस्तियों का संकलन किया गया है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। इन प्रशस्तियों में संघ गण, गच्छ, वंश, गुरुपरम्परा, स्थान, समय आदि का संकेत मिलता है। इस भाग में कुछ परिशिष्ट भी दिये गये हैं जिनमें प्रशस्तिगत भौगोलिक ग्रामों, ग्रंथों, संघों, गच्छों, स्थानों, राजाओं, राजमन्त्रियों, विद्वानों, आचार्यों, भट्टारकों तथा श्रावक-श्राविकाओं के नाम की सूची को अकारादिक्रम से दिया गया है। पं. परमानन्दजी द्वारा लिखित 113 पृष्ठों की प्रस्तावना विशेष महत्त्वपूर्ण है।

जैनग्रंथ-प्रशस्ति-संग्रह के दूसरे भाग के सम्पादक हैं पं. परमानन्द शास्त्री जो जैनशोध क्षेत्र में इतिहास और साहित्य के सर्वमान्य विद्वान् हैं। आपने वीरसेवा मन्दिर के अनेकान्त पत्र का लगभग प्रारम्भ से ही सम्पादन का भार उठाया और प्रामाणिक शोध निबन्धों को स्वयं लिखकर प्रकाशित किया। विद्वज्जगत श्री परमानन्द जी की सुलेखिका से भलीभांति परिचित है। उन्होंने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी के अनेक आचार्यों का काल-निर्धारण किया एवं उनके कृतित्व व व्यक्तित्व पर असाधारण रूप से शोध-खोजकर प्रथमतः प्रकाश डाला। उनका एक नवीनतम ग्रंथ जैनधर्म का प्राचीन इतिहास अपने वृहदाकार में देहली से प्रकाशित हुआ है, जो उनकी विद्वत्ता का परिचायक है। यह उनका अंतिम ग्रंथ है।

इस द्वितीय भाग में विशेष रूप से अपभ्रंश ग्रंथों की 122 प्रशस्तियां दी गयी हैं, जो साहित्य और इतिहास के साथ ही सामाजिक और धार्मिक रीति रिवाज पर भी अच्छा प्रकाश डालती हैं। इन प्रशस्तियों को हस्तलिखित ग्रंथों पर से संगृहीत किया गया है व अधिकांश अप्रकाशित ग्रंथों को ही सम्मिलित किया गया है। इसमें कुछ उपयोगी परिशिष्ट भी दिए गये हैं जिनमें भौगोलिक ग्राम, नगर, ग्राम, संघ, गण, गच्छ, राजा आदि को अकारादिक्रम से रखा है। लगभग 150 पृष्ठ की सम्पादक की प्रस्तावना शोध की दृष्टि से और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका प्रकाशन वीरसेवा मन्दिर, देहली से सन् 1963 में हुआ। एक अन्य प्रशस्ति संग्रह श्री के० भुजबली शास्त्री के सम्पादन में जैन सिद्धान्त भवन आरा से वि. सं. 1909 में प्रकाशित हुआ था। इसमें शास्त्री जी ने 9 ग्रंथकारों की प्रशस्तियां दी हैं और साथ ही हिन्दी में उनका संक्षिप्त सारांश भी दिया है।

6. लेश्या कोश

इसके सम्पादक श्री मोहनलाल बांठिया और श्रीचन्द चोरड़िया हैं और इसके प्रकाशन-कार्य का गुरुतर भार भी श्री बांठिया ने उठाया है, जो कलकत्ता से सन् 1966 में प्रकाशित हुआ। ये दोनों विद्वान् जैनदर्शन और साहित्य के संशोधक रहे हैं। सम्पादकों ने सम्पूर्ण जैन वाङ्मय को सार्वभौमिक दशमलव वर्गीकरण पद्धति का अनुसरण कर 100 वर्गों में विभक्त किया और आवश्यकता के अनुसार उसे उप-वर्ग

परिवर्तित भी किया। मूल विषयों में से अनेक विषयों के उपविषयों की भी सूची इसमें सन्निहित है। इसके सम्पादन में तीन बातों का आधार लिया गया है—(1) पाठों का मिलान, (2) विषय के उपविषयों का वर्गीकरण तथा, (3) हिन्दी अनुवाद। मूल पाठ को स्पष्ट करने के लिए सम्पादकों ने टीकाकारों का भी आधार लिया है। इस संकलन का काम आगम ग्रंथों तक ही सीमित रखा गया है। फिर भी सम्पादन, वर्गीकरण तथा अनुवाद के कार्य में नियुंक्ति, चूर्णि, वृत्ति, टीका आदि टीकाओं का तथा सिद्धान्त ग्रंथों का भी यथास्थान उपयोग हुआ है। दिगम्बर ग्रंथों का इसमें उल्लेख नहीं किया जा सका। सम्पादक ने दिगम्बर लेश्या कोश को पृथक् रूप से प्रकाशित करने का सुझाव दिया है। कोश-निर्माण में 43 ग्रंथों का उपयोग किया गया है।

7. क्रिया कोश

इसके भी सम्पादक श्री मोहनलाल बांठिया और श्री श्रीचन्द चोरड़िया हैं और प्रकाशन किया है जैनदर्शन समिति कलकत्ता ने सन् 1996 में। श्री बांठिया जैनदर्शन के सूक्ष्म विद्वान् हैं। उन्होंने जैन विषय-कोश की एक लम्बी परिकल्पना बनाई थी और उसी के अन्तर्गत यह द्वितीय कोश क्रिया-कोश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस कोश का भी संकलन दशमलव वर्गीकरण के आधार पर किया गया है और उनके उपविषयों की एक लम्बी सूची है। क्रिया के साथ ही कर्म विषयक सूचनाओ को भी इसमे अंकित किया गया है। लेश्या-कोश के समान ही इस कोश के सम्पादन मे भी पूर्वोक्त तीन बातो का आधार लिया गया है इसमे लगभग 45 ग्रंथों का उपयोग किया गया है, जो प्राय. श्वेताम्बर आगम ग्रथ हैं। कुछ दिगम्बर आगमों का भी उपयोग हो सका है।

सम्पादक ने उक्त दोनों कोशों के अतिरिक्त पुद्गल-कोश, दिगम्बर लेश्या कोश और परिभाषा कोश का भी संकलन किया था परन्तु अभी तक इनका प्रकाशन नहीं हो सका है। इस प्रकार के कोश जैनदर्शन को समुचित रूप से समझने के लिए निःसंदेह उपयोगी होते हैं।

8. जैन जेम डिक्शनरी

Gaina Gem Dictionary का सम्पादन जैनदर्शन के मान्य विद्वान् जे० एल० जैनी ने सन् 1910 में किया था, जो आरा से प्रकाशित हुआ। श्री जैनी ने Heart of Jainism जैसे अनेक ग्रंथों को स्वतन्त्र रूप से तैयार किया और तत्वार्थ सूत्र जैसे मान्य ग्रंथो का अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया। जैनधर्म को अंग्रेजी के माध्यम से प्रस्तुत करने में सी० आर० जैन और जे० एल० जैनी का नाम अविस्मरणीय रहेगा।

श्री जैनी का कोश जैन-पारिभाषिक शब्दों को समझने के लिए एक प्रस्थान ग्रन्थ कहा जा सकता है भूमिका मे उन्होंने स्वयं लिखा है—"यह मुझे अनुभव हुआ कि एक ही जैन शब्द के विभिन्न अनुवादों में विभिन्न अंग्रेजी पर्याय प्रयुक्त हो सकते हैं। इससे एकरूपता समाप्त हो जाती है और ग्रन्थों के जैनेतर पाठकों के मन में दुविधा का कारण बन जाता है। इसलिए सबसे अच्छा उपाय सोचा गया कि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जैन पारिभाषिक शब्दों को साथ रखा जाय और जैनदर्शन के आलोक में सही अर्थ प्रस्तुति का प्रयत्न किया जावे। निश्चित ही इस तरह के कार्य को अंतिम कहना उपयुक्त न होगा। यह उत्तम प्रयास है कि जैन पारिभाषिक शब्दों को वर्ण-क्रमानुसार नियोजित किया जावे और उनका अनुवाद अंग्रेजी में दिया जाये।"

इस कोश का आधार पं. गोपालदास बरैया द्वारा रचित जैन सिद्धान्त प्रवेशिका जैसा लघु कोश प्रतीत होता है। एक अन्य कोश श्री बी. जैन और श्री शीतलप्रसाद जैन ने 'वृहज्जैन-शब्दार्णव' नाम से सन् 1924 और 1934 में दो भागों में बाराबंकी से प्रकाशित किया था। इसी प्रकार का आनन्द सागरसूरि द्वारा लिखित 'अल्प-परिचित-सैद्धान्तिक शब्दकोश' भाग 1, सूरत से सन् 1954 में प्रकाशित हुआ था जिसमे जैन सैद्धांतिक शब्दों को संक्षेप में समझाया गया है।

9. जैनेन्द्र-सिद्धान्त-कोश

इसके रचयिता क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी हैं, जिन्होंने लगभग 20 वर्ष के सतत अध्ययन के फलस्वरूप इसे तैयार किया है। इसमे उन्होंने जैन तत्त्वज्ञान, आचार-शास्त्र, कर्मसिद्धान्त, भूगोल, ऐतिहासिक तथा पौराणिक व्यक्ति, राजे तथा राजवंश आगम, शास्त्र व शास्त्रकार, धार्मिक तथा दार्शनिक सम्प्रदाय आदि से सम्बद्ध लगभग 600 शब्दों तथा 2100 विषयों का सांगोपांग विवेचन किया है। सम्पूर्ण सामग्री संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश मे लिखित प्राचीन जैन साहित्य के 100 से अधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक ग्रन्थों से मूल सन्दर्भों, उद्धरणों तथा हिन्दी अनुवाद के साथ संकलित की गयी है। इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण सारणियाँ और रेखाचित्र भी जोड़ दिये गये हैं, जिससे विषय अधिक स्पष्ट होता गया है। हर विषय को मूल शब्द के अन्तर्गत ऐतिहासिक दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। साथ ही यह ध्यान रखा गया है कि शब्द और विषय की प्रकृति के अनुसार उसके अर्थ, लक्षण, भेद-प्रभेद, विषय-विस्तार, शंका-समाधान व समन्वय आदि में जो-जो और जितना-जितना अपेक्षित हो वह सब दिया जाय। प्रस्तुत कोश को भारतीय ज्ञानपीठ से चार भागों में 8 और 10 प्वाइंट में प्रकाशित हुआ है। मुद्रण की दृष्टि से भी इसमें अन्य कोशों की अपेक्षा वैशिष्ट्य है। टाइप की भिन्नता से विषय

की भिन्नता को पहिचाना जा सकता है। मूल उद्धरणों को दे देने से इस ग्रन्थ की उपयोगिता और अधिक बढ़ गयी है। वस्तुतः यह सही अर्थ में सन्दर्भ ग्रन्थ बन गया है। इसमें अधिकांशतः दिगम्बर ग्रन्थों का उपयोग किया गया है। इसके चार भाग इस प्रकार है—

भाग 1	'अ' से 'औ' वर्ण तक	पृष्ठ	504	प्रकाशन काल	सन्	1970
भाग 2	'क' से 'न' वर्ण तक	,,	634	,,	,,	1971
भाग 3	'प' से 'व' वर्ण तक	,,	638	,,	,,	1972
भाग 4	'श' से 'ह' वर्ण तक	,,	544	,,	,,	1973

इतने छोटे टाइप में मुद्रित 2320 पृष्ठ का यह महाकोश निस्संदेह वर्णी जी की सतत साधना का प्रतीक है। उनका जन्म 1921 में पानीपत में हुआ। आपके पिता जयभगवान एडवोकेट जाने-माने विचारक और विद्वान् थे। आपकी जिजीविषा ने ही सन् 1938 में आपको क्षयरोग से बचाया तथा इसी कारण एक ही फेंफड़े से पिछले वर्ष तक अपनी साधना में लगे रहे। एम० इ० एस० जैसी उच्च उपाधि प्राप्त करने के बावजूद प्रवृत्ति पथ में उनका मन नहीं रम सका और फलतः 1957 में घर से संन्यास ले लिया और 1963 में क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। प्रकृति से अध्यवसायी, मृदु और निस्पृही वर्णीजी के कुछ अन्य महत्वपूर्ण ग्रंथ भी प्रकाशित हुए हैं जिनमें शांतिपथ-प्रदर्शक, नये दर्पण, जैन-सिद्धान्त शिक्षण, कर्म–सिद्धान्त, श्रद्धा–बिन्दु, द्रव्य–विज्ञान, कुन्दकुन्द–दर्शन आदि नाम उल्लेखनीय हैं।

10. जैनलक्षणावली

प्रस्तुत ग्रंथ के सम्पादक पं० बालचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री हैं, जिन्होंने अनेक कठिनाइयों के बावजूद इस ग्रन्थ का सम्पादन किया। उनका जन्म सं. 1962 में सोरई (झांसी) में हुआ और शिक्षा का बहुतर भाग स्याद्वाद विद्यालय वाराणसी में पूरा हुआ। सन् 1940 से लगातार साहित्यिक कार्य में जुटे हुए हैं, डॉ० हीरालाल जी के साथ उन्होंने षट्खण्डागम (धवला) के छह से सोलह भाग तक का सम्पादन और अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त जीवराज जैनग्रंथमाला से आत्मानुशासन, पुण्याश्रव कथाकोश, तिलोयपण्णत्ति और पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका ग्रंथ हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित हुए। लक्षणावली के अतिरिक्त वीर सेवा मन्दिर से ध्यानशतक भी विस्तृत प्रस्तावना के साथ प्रकाशित हुआ है। आप मौन साधक और कर्मठ अध्येता हैं।

लक्षणावली एक जैन पारिभाषिक शब्दकोश है। इसमें लगभग 400 दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रन्थों से ऐसे शब्दों का संकलन किया गया है, जिनकी कुछ

न कुछ परिभाषा उपलब्ध होती है। सभी सम्प्रदायों में प्रायः ऐसे पारिभाषिक शब्द उपलब्ध होते हैं। उनका ठीक-ठीक अभिप्राय समझने के लिए उन-उन ग्रंथों का आश्रय लेना पड़ता है। जैनदर्शन के संदर्भ में इस प्रकार के पारिभाषिक शब्दकोश की आवश्यकता थी जो एक ही स्थान पर विकास-क्रम की दृष्टि से दार्शनिक परिभाषाओं को प्रस्तुत कर सके। इस कमी की पूर्ति लक्षणावली से भलीभांति हो गई। इसमें परिभाषाओं के साथ ही संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद भी कुछ भिन्न मोटे टाइप में दिया गया है अनुवादित ग्रंथ भाग का क्रम भी साथ में अंकित किया गया है। अनेक वर्षों के परिश्रम के बाद इस ग्रन्थ का मुद्रण हो पाया है। लगभग 100 पृष्ठों की शास्त्री जी द्वारा लिखित प्रस्तावना ने इसे और भी अधिक सार्थक बना दिया। श्री जुगलकिशोर मुख्तार और बाबू छोटेलाल की स्मृतिपूर्वक इस का प्रकाशन हुआ है। इसके दो भाग क्रमशः 1972 और 1975 ई० में प्रकाशित हुए हैं जिनमें लगभग 750 पृष्ठ मुद्रित हैं। तृतीय भाग का भी मुद्रण हो चुका है।

11. ए डिक्शनरी ऑफ प्राकृत प्रापर नेम्स

A Dictionary of Prakrit Proper names का संकलन और सम्पादन डॉ. मोहनलाल मेहता और डॉ. के. आर. चन्द्र ने संयुक्त रूप से किया है और एल. डी. इन्स्टीट्यूट अहमदाबाद ने उसे सन् 1972 में दो भागों में प्रकाशित किया है। डॉ. मेहता और डॉ. चन्द्र प्राकृत और जैन क्षेत्र के लिए अज्ञात नहीं। दोनों विद्वानों के अनेक शोधग्रंथ और निबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं। डॉ. मेहता के द्वारा लिखित ग्रन्थों में प्रमुख हैं—Jaina Psychology, Jaina Culture, Jaina Philosophy जैन आचार, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, जैन धर्म दर्शन आदि। डॉ. चन्द्र ने विमलसूरि के पउमचरिय का अंग्रेजी में अध्ययन प्रस्तुत किया है जो प्रकाशित हो चुका है। इन दोनों विद्वानों ने उपर्युक्त कोश की रचना डॉ. मलाल शेखर के 'A' Dictionary of Pali-Proper names के आधार के सन्दर्भ में यह कोश अच्छी जानकारी प्रस्तुत करता है।

12. Jaina Bibliography : (Universal Encyclopaedia of Jaja References)

लगभग 25 वर्ष पहले बाबू छोटेलालजी ने एक Jaina Bibliography प्रकाशित की थी जो प्राय उपलब्ध नहीं है। वीर सेवा मन्दिर दिल्ली की ओर से डॉ. ए. एन. उपाध्ये के सम्पादन में एक और Jaina Bibliography एक भारी विस्तार के साथ प्रकाशित हो चुकी है। इसे भी बाबू छोटेलाल जी ने संकलित किया

था। इसमें 1062 तक के शोध कार्यों को सम्मिलित किया गया है। लगभग 2000 पृष्ठों के इस ग्रन्थ की शब्द सूची बनाने का दुष्कर कार्य सामाजिक सेवा की दृष्टि से डॉ. भागचन्द्र भास्कर, प्रोफेसर एवं निदेशक जैन अनुशीलन केन्द्र, जयपुर विश्वविद्यालय ने हाथ में लिया था जो 250 पृष्ठ में पूरा भी हो गया था।। परन्तु संस्था के आन्तरिक विवाद ने डॉ. जैन के किये हुए कार्य को मटियामेट कर दिया और आज वह बिना शब्द सूची के ही विक्रयार्थ उपलब्ध हुआ है। डॉ. जैन की अमूल्य सेवा की यह दुर्गति संस्थान की वर्तमान स्थिति को स्पष्ट रूप से सामने रखने के लिए पर्याप्त है।

प्रस्तुत Bibliography में देश विदेश में प्रकाशित ग्रन्थों और पत्रिकाओं से ऐसे सन्दर्भों को विषयानुसार एकत्रित किया गया है जिनमें जैनधर्म और संस्कृति से सम्बद्ध किसी भी प्रकार की सामग्री प्रकाशित हुई है जो निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत संकलित की गई है। Encyclopaedias, Dictionaries, Bibliographies, gazetteers, Census Reports and gvides, Historical and archaeological accounts, Archaeology (including Museum), Archaeological Survey, History, Geography, Biography Religion, Philosophy and Logic, Sociology, EnthoPology, Educational statistics, Languages, Literature, general works. इन समस्त शीर्षकों को आठ विभागों में विभाजित किया गया है। इस बृहदाकार ग्रन्थ में देशी-विदेशी विद्वानों द्वारा लिखित लगभग 3000 पुस्तकों और निबन्धों आदि का उपयोग किया गया है फिर भी कुछ आवश्यक सामग्री संकलित होने से रह गयी है। इसके बावजूद यह ग्रन्थ निर्विवाद रूप से प्राचीन भारतीय संस्कृति, विशेषत: जैन संस्कृति के संशोधन के लिए अत्यन्त उपयोगी सन्दर्भ ग्रन्थ कहा जा सकता है।

12. अन्य कोश

उपर्युक्त कोशों के अतिरिक्त कुछ और भी छोटे छोटे कोश जैन विद्वानों ने तैयार किये हैं। उनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं– श्री बलभी छगनलाल का 'जैन कक्को' अहमदाबाद से सन् 1812 में प्रकाशित हुआ था, जिसमें प्राकृत शब्दों का गुजराती में अनुवाद दिया गया था। इसी तरह एच० आर० कापड़िया का English-Prakrit Dictionary के नाम से एक कोश सूरत से सन् 1941 में प्रकाशित हुआ था। यहां हम डॉ. भागचन्द्र जैन भास्कर द्वारा संकलित और सम्पादित 'विद्वद्विनोदिनी' का भी उल्लेख कर सकते हैं, जिसमें उन्होंने संस्कृत पालि, प्राकृत हिन्दी और गुजराती साहित्य में उपलब्ध प्रहेलिकाओं का संग्रह किया है। इसका प्रकाशन अमोल जैन ज्ञानालय, धूलिया की ओर से सन् 1968 में हुआ था। इसमें संस्कृत, प्राकृत साहित्य में उपलब्ध कुछ और भी प्रहेलिकाओं

का संग्रह कर आकार को कुछ और भी बढ़ कर दिया जाता तो कदाचित् यह ग्रंथ अधिक उपयोगी हो पाता ।

इनके अतिरिक्त डॉ. मोहनलाल मेहता और के. आर. चन्द्रा के सम्पादन में श्रमण मासिक पत्रिका, वाराणसी के जनवरी 1976 के अंक से जैनागम पदानुक्रम कोश का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ था जो काफी अंश तक हो चुका है। इसी तरह युवाचार्य महाप्रज्ञ श्री मुनि नथमल जी के निर्देशन में जैन विश्व भारती लाडनूं से आगम शब्द कोश का प्रथम भाग भी प्रकाशित हुआ है। यह बहुत सारी सूचनाओं से आपूर है। श्री श्री चन्द चोरड़िया का 'वर्धमान कोश' भी उल्लेखनीय है जिसमें उन्होंने वर्धमान महावीर के जीवन से सम्बद्ध उद्धरण एकत्रित किये हैं। तुलसीप्रज्ञा में भी डॉ. नथमल टाटिया ने जैन पारिभाषिक शब्द कोश का प्रकाशन प्रारम्भ किया है।

इस प्रकार आधुनिक युग में अनेक जैन विद्वानों ने विविध प्रकार के कोश ग्रन्थों को तैयार किया, जो अध्येताओं के लिए अनेक प्रकार से उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। यहां हमने कतिपय कोशग्रंथों का ही उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त कुछ और भी छोटे-मोटे अनेक कोश ग्रन्थों की रचना जैन विद्वानों ने की होगी पर उनकी जानकारी हमे नही हो सकी। यहां विशेष रूप से ऐसे कोश ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है जिनका सम्बन्ध प्राकृत और जैन साहित्य से रहा है। संस्कृत हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी आदि भाषाओं के जैन विद्वानों द्वारा लिखित कोश इस सीमा से बाहर रहे है। जैनग्रंथ सूचियों को भी हमने जानबूझकर छोड़ दिया है क्योंकि आधुनिक दृष्टि से वे कोशों की परिधि में नहीं आतीं। हाँ, यदि हम कोश का संकीर्ण अर्थ न लेकर उसका प्रयोग विस्तृत अर्थ में करें तो निस्संदेह कोशकार एवं कोशग्रन्थों की एक लम्बी सूची तैयार हो सकती है।

परिवर्त 3

जैन दार्शनिक चेतना

1. स्याद्वाद और अनेकान्तवाद

स्याद्वाद और अनेकान्तवाद निर्दोष कथन और चिंतन का एक प्रशस्त मार्ग है। यह अपने दुराग्रह से मुक्ति और दूसरे के विचारों की सादर स्वीकृति है। सूत्रकृताङ्ग जैसे प्राचीन अंग-साहित्य में इसका विवेचन मिलना इस बात का द्योतक है कि स्याद्वाद का चिंतन जैनदर्शन में लगभग महावीरकालीन है। बौद्धधर्म का पालि-साहित्य भी इस बात का समर्थन करता है।

सूत्रकृताङ्ग मे भिक्षु के लिए विभज्जवादमयी भाषा का प्रयोग निर्दिष्ट है। विभज्जवाद का तात्पर्य है, सम्यक् अर्थों को विभक्त करने के बाद उसे व्यक्त करना। भाषा-समिति के सन्दर्भ मे भिक्षु के लिए उपदिष्ट यह निर्देशन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

> संकेज्ज याऽसंकितभाव भिक्खू, विभज्जवायं च वियागरेज्जा।
> भासादुयं धम्मसमुट्ठितेहिं, वियागरेज्जा समया सुपन्ने ॥

……………विभज्यवादं—पृथगर्थनिर्णयवादं व्यागृणीयात् यदिवा विभज्यवाद:—स्याद्वादस्तं सर्वत्रास्खलितं लोकव्यवहाराविसंवादितयासर्वव्यापिनं स्वानुभवसिद्ध वदेत्, अथवा सम्यगर्थान् विभज्य पृथक्कृत्वा तद्वाद वदेत्, तद्यथा—नित्यवादं द्रव्यार्थतया पर्यायार्थतया त्वनित्यवाद वदेत्, तथा स्वद्रव्य क्षेत्रकालभावै: सर्वेऽपि पदार्था: सन्ति, परद्रव्यादिभिस्तु न सन्ति, तथा चोक्तम्—"सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादिचतुष्टयात् ? असदेव विपर्यासान्नचेन्न व्यवतिष्ठते।"

भगवान बुद्ध भी अपने आप को विभज्यवादी मानते रहे हैं, एकांशवादी नहीं। यहां महावीर के विभज्यवाद और बुद्ध के विभज्यवाद में कुछ अन्तर है। प्रथम सभी नयों अथवा दृष्टि कोणों को कथंचित्रूप से सत्य स्वीकार करता है जबकि बुद्ध का विभज्यवाद अग्रिम स्पष्टीकरण किये बिना उसे सही नहीं मानता। एक व्यापक है और दूसरा सीमित।

पालि-साहित्य में भी निगण्ठनातपुत्त के स्याद्वादी-विचारों का संकेत मिलता है। बुद्ध के प्रश्नों का पार्श्वनाथ के अनुयायी सच्चक द्वारा उत्तर दिये जाने पर बुद्ध ने उसमें स्वात्मविरोध का दूषण दिया। इसी प्रकार चित्तगहपति द्वारा प्रस्तुत उत्तर में भी "सचे पुरिमं सच्चं, पच्छिमं ते मिच्छा, सचे पच्छिमं सच्चं, पुरिमं ते मिच्छा" के रूप में परस्पर विरोध बतलाया है। बुद्धघोष ने महावीर की इस स्याद्वादी विचारधारा को उच्छेदवाद और शाश्वतवाद का संमिश्रण कहा है। इन सब उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भगवान बुद्ध के काल में तीर्थंकर पार्श्वनाथ और महावीर के सिद्धान्तों में स्याद्वाद अपने प्राथमिक रूप में विद्यमान था। सूत्र-कृताङ्ग का अन्य उद्धरण भी हमारे मत का पोषक बन जाते हैं।

नयवाद

नय और निक्षेप इसी स्याद्वाद के अंग-प्रत्यंग हैं। नय प्रमाण द्वारा ज्ञात वस्तु का एक देश ग्रहण करता है। प्रमाण घड़े को पूर्ण रूप से जानता है जबकि नय उसे मात्र रूपवान् घट मानता है। बौद्ध-साहित्य मे वस्तु-विशेष को जानने के 10 मार्ग बताये गये हैं—अनुस्सवेन, परंपराय, इतिकिरिय, पिटकसंपदाय, भव्वरूप-ताय, समणो न गुरु, तक्किहेतु, नयहेतु, आकारपरिवितक्केन और दिट्ठिनिज्झानक्ख-न्तिया। इसमे आठवां मार्ग नयहेतु है जो किसी एक निर्णय विशेष की ओर संकेत करता है। शीलांकाचार्य ने नय के उद्देश्य व लक्षण को किसी अन्य आचार्य का उद्धरण देकर प्रस्तुत किया है। उन्होंने लिखा है कि वस्तु को उसे ग्रहण और त्याग करना चाहिए। यही नय है—

> णायम्मि गिण्हियव्वे, अगिण्हियव्वंमि चेव अत्थंमि।
> जइयव्वमेव इति जो, उवएसो सो नओ नाम ॥

सूत्रकृताङ्ग के मूलरूप में नय-निक्षेप के भेदों का वर्णन नहीं मिलता। संभव है, जब इसकी रचना की गई हो, इन भेदों का जन्म न हुआ हो अथवा सिर्फ मूल को संकेतित करने की अपेक्षा रही हो। शीलांकाचार्य ने अवश्य एक-दो स्थानों पर प्रसंग लाकर नय और निक्षेपों के भेदों का अल्प विवेचन प्रस्तुत किया है। उन्होंने नय के प्राय. सर्वमान्य सात भेद बताये हैं– नैगम, संग्रह, व्यवहार ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ व एवंभूत। इनमें प्रथम चार नय अर्थनय हैं और तीन नय शब्द नय हैं।

वृत्तिकार ने इन सात नयों को एक दूसरे में अन्तर्भूत करते हुए इनके संक्षिप्त रूपों को भी बतलाया है। नैगमनय सामान्य और विशेष रूप होने से संग्रह और व्यवहार में अन्तर्भूत हो जाता है इसलिए संग्रह आदि छह नय हैं। समभिरूढ और एवंभूत नय का शब्दनय में प्रवेश हो जाने से नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और

अथवा ये पाँच नय हैं। नैगमनय भी व्यवहार में अन्तरभूत हो जाता है अतः चार ही नय हैं। व्यवहार भी सामान्य और विशेष रूप है इसलिए सामान्य और विशेषात्मक संग्रह और ऋजुसूत्र में इसका अन्तर्भाव हो जाता है। अतः संग्रह, ऋजुसूत्र और शब्द ये तीन नय हैं। ये तीन नय भी द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक में अन्तर्भूत हो जाते हैं इसलिए द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक ये दो नय हैं। इन्हीं को द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक अथवा निश्चय और व्यवहारनय भी कहा जाता है। ये सभी नय ज्ञान और क्रिया में गर्भित हो जाते हैं। अत. ज्ञान और क्रिया नामक दो नय हैं। उनमें ज्ञाननय ज्ञान को प्रधानता देता है और क्रियानय क्रिया को मुख्य मानता है। वस्तुत· पृथक्-पृथक् रूप से सभी नय मिथ्या हैं और ज्ञान तथा क्रिया ये दोनों परस्पर की अपेक्षा से मोक्ष के अंग हैं, इसलिए इस दर्शन में दोनों ही प्रधान हैं। ज्ञान और क्रिया ये दोनों भिन्न-भिन्न विषय के साधक हैं, परन्तु परमार्थत· समुदित रूप में पंगु और अंधे के समान अभिप्रेत फल (मोक्ष) देने में सक्षम हैं। इसलिए कहा है—

सव्वेसिंपि णयाण, बहुविहवत्तव्वयं णिसामेत्ता।

त सव्वणय विसुद्ध, जं चरणगुणट्ठिओ साहू॥

वस्तु अनंत धर्मवान् है अतएव कथनपद्धति भी अनत होनी चाहिए। इसलिए लिखा गया है—

जावइया वयणपहा, तावइया चेव होंति नयवाया।

अर्थात् जितने वचन पक्ष हैं उतने ही नय प्रकार होते हैं फिर भी आचार्यों ने इन नयो को अधिक से अधिक उक्त रूप से सात भागों में और कम से कम दो भागो मे विभाजित किया है। इन सात नयों के संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार हैं—

(1) **नैगमनय**—सामान्यात्मक और विशेषात्मक वस्तु का एक प्रकार से ज्ञान नहीं होना, नैगमनय है। सर्वार्थसिद्धि में संकल्प मात्र को ग्रहण करने वाला नैगमनय बताया है। इसका दूसरा नाम नैकगमः अथवा नैकमगमः दिया गया है। इसका अर्थ है कि यह नय किसी एक विषय पर सीमित नहीं रहता, गौण, और प्रधान रूप से धर्म और धर्मी दोनों का विषय-कर्ता है। समस्त पदार्थों में रहने वाली सत्ता को महासामान्य और द्रव्यत्व, जीवत्व आदि में रहने वाली सत्ताको अपरान्तराल-सामान्य कहा जाता है। यह नय परमाणु आदि विशेष पदार्थों के गुणों का भी परिच्छेदक रहता है। अनुयोगद्वार में इस नय को निलयन्, प्रस्थक और प्रदेश इन तीन दृष्टान्तों के माध्यम से समझाया है। धर्म-धर्मी अथवा गुण-गुणी में सर्वथा भेद मानना नैगमाभास कहलाता है। इस दृष्टि से नैयायिक-वैशेषिक और सांख्य-दर्शन नैगमाभासी हैं।

(2) संग्रहनय—पदार्थों के सामान्य आकार का सम्यक् ग्रहण संग्रहनय है। अनन्यभूत, अनुत्पन्न व स्थिर स्वभाव वाली सत्तावान् वस्तु को यह नय स्वीकार करता है। सत्ता से व्यतिरिक्त वस्तु खरविषाण के समान अस्तित्वहीन है। सामान्य विशेषात्मक वस्तु के सामान्य अंशमात्र को ही ग्रहण करना इस नय की सीमा है। अतएव विशेषांश रहित सामान्य मिथ्यादृष्टि है और यही संग्रहाभास है। पुरुषाद्वैत, ज्ञानाद्वैत, शब्दाद्वैत आदि अद्वैतवाद संग्रहाभास के अन्तर्गत हैं।

(3) व्यवहारनय—यह नय लोक प्रसिद्ध व्यवहार का अनुगामी होता है लेकिन वस्तु के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक स्वभाव से अपरिचित होने के कारण यह नय भी मिथ्या-दृष्टि है। वस्तु के धर्मभेदत्व का सर्वथा निराकरण करना व्यवहाराभास है। सौत्रान्तिक, योगाचार, विज्ञानाद्वैत और माध्यमिक दर्शन व्यवहाराभास के अन्तर्गत आते हैं।

(4) ऋजुसूत्रनय—वस्तु की वर्तमान पर्याय से इस नय का सम्बन्ध है। उसका अतीत और अनागत पर्याय से कोई सम्बन्ध नहीं। सामान्य विशेषात्मक वस्तु के मात्र विशेषांश का ही समाश्रयण होने के कारण यह दृष्टि सम्यक् नहीं है क्षणिकवाद ऋजुसूत्राभास है।

(5) शब्दनय—शब्द द्वारा ही लिंग, वचन साधन, उपग्रह व काल के भेद से वस्तु के भिन्न-भिन्न अर्थों को ग्रहण करना शब्दनय है। उदाहरणार्थ पुष्य, तारका व नक्षत्र में समान अर्थ होने पर भी लिंगभेद है। आपः, अम्भः, वर्षा ऋतु में संख्याभेद है। 'एहि मन्ये रथेन यास्यसि' में साधनाभेद है। तिष्ठति, प्रतिष्ठते, रमते, उपरमति में उपग्रहभेद है। अतः शब्दभेद से अर्थभेद मानना आवश्यक है। अन्यथा वैयाकरण आधारहीन हो जायेंगे।

(6) समभिरूढनय—लिंग आदि से अभिन्न शब्दों में अनेक विषय अथवा प्रवृत्तियों का द्योतन होना समभिरूढनय है। जैसे इन्द्रः, शक्रः पुरन्दरः अथवा घटः, कुटः, कुम्भः में समान लिंग होने पर भी प्रवृत्ति निमित्त की अपेक्षा से अर्थ में भिन्नता है। शब्दनय में समान लिंगवाची पर्यायवाचक शब्दों में अर्थभेद नहीं था परन्तु समभिरूढ नय पर्यायार्थक शब्दो मे भी अर्थभेद स्वीकार करता है।

(7) एवंभूतनय—शब्द की प्रवृत्ति जब जिस रूप में हो उसे उसी रूप में स्वीकार करना एवंभूतनय है। जैसे युवती जब जलादि के आहरण में प्रवृत्त हो तभी घट को घट कहना चाहिए, निर्व्यापार स्थिति में नहीं। इस प्रकार यह नय क्रियाकाल में ही उस शब्द की प्रवृत्ति स्वीकार करता है जबकि समभिरूढनय क्रिया हो अथवा न हो परन्तु शक्ति की अपेक्षा अन्य शब्दों को भी स्वीकार कर लेता है। प्रवृत्ति-निमित्त शब्द के स्थान पर अन्य शब्द का प्रयोग एवंभूतनयाभास है।

ये नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषय को ग्रहण करने वाले हैं। नैगम-नय सद्-असद् दोनों का ग्राहक है किन्तु संग्रहनय मात्र सत् को ही ग्रहण करता है। व्यवहार-नय की सीमा त्रिकालवर्ती पदार्थ को ग्रहण करना है। किन्तु ऋजुसूत्रनय वर्तमान पदार्थ को ही जान पाता है। शब्दनय पर्यायभेद होने पर भी अभिन्न अर्थ को स्वीकार करता है। एवंभूतनय क्रियाभेद से अर्थ को ग्रहण कर सबसे सूक्ष्म विषय को स्वीकार करने वाला नय है।

निक्षेपवाद

निक्षेप का अर्थ रखना अथवा नियोजित करना है। शब्द के अर्थ वक्तृ, बोद्धव्य, काकु, प्रसंग आदि के कारण भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। ये कथन या तो भेदप्रधान होते हैं या फिर अभेदप्रधान। यद्यपि मौलिक अस्तित्व द्रव्य का है परन्तु उसका व्यावहारिक अर्थ के सम्भव नही अतः व्यवहार के निमित्त पदार्थों का निक्षेप आचार्यों ने चार अर्थों में प्रयुक्त किया है—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। वक्ता अपने विवक्षित अर्थ को इन्हीं के माध्यम से व्यक्त करता है। यही निक्षेप है। परिज्ञा शब्द का भी निक्षेप अर्थ में प्रयोग हुआ है। परिज्ञा दो प्रकार की है-द्रव्य-परिज्ञा और भाव-परिज्ञा। भाव-परिज्ञा के भी दो भेदहैं-ज्ञ-परिज्ञा और प्रत्याख्यान-परिज्ञा। द्रव्य-परिज्ञा तीन प्रकार की है—सचित्त, अचित्त और मिश्र। पौण्डरीक अध्ययन मे निक्षेप के आठ भेद बताये बताये गये हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, गणना, संस्थान और भाव। वहीं गणना और संस्थान को छोड़कर छह भेद भी बताये गये हैं। अन्य स्थान पर निक्षेप के पांच भेद गिनाये गये हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र और भाव। प्रथम अध्ययन में शीलांक ने निक्षेप के तीन भेद किये हैं—ओघ निष्पन्न, नामनिष्पन्न और सूत्रालापक निष्पन्न। नामनिष्पन्न के बारह प्रकार मिलते हैं-—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, कुतीर्थ, संगार, कुल, गण, संकर, गण्डी और भाव। इसके उदाहरण आदि भी यहां दिये गये हैं--

नामठवणा दविए खेत्ते काले कुतित्थसंगारे।
कुलगण संकर गंडी बोद्धव्वो भाव समए य॥

निक्षेप का मुख्य प्रयोजन अप्रस्तुत का निराकरण कर प्रस्तुत का बोध कराना, संशय को दूर करना और तत्वार्थ का अवधारण करना है—

अवगयणिवारणट्ठं पयदस्स, परूवणाणिमित्तं च।
संसयविणासणट्ठं, तच्चत्थवधारणट्ठं च॥

स्याद्वाद

स्याद्वाद भाषा की वह निर्दोष प्रणाली है जिसके माध्यम से वक्ता दूसरे के विचारों का समादर करता है। अनेकान्त यद्यपि स्थूलतः स्याद्वाद का पर्यायवाची शब्द कहा जा सकता है फिर भी दोनों में भेद है। स्याद्वाद भाषा-दोष से बचाता

है और अनेकान्तवाद चिंतन को निर्दोष घोषित करता है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि अनेकान्तवाद पूर्वक स्याद्वाद होता है क्योंकि निर्दुष्ट चिंतन के बिना दोषमुक्त भाषा का प्रयोग सम्यक् रीति से नहीं हो सकता। जैनदर्शन के अनुसार वस्तु अनेक धर्मात्मक है। वह न सत् है, और न असत्, न नित्य है, न अनित्य किन्तु किसी अपेक्षा से सत् है, असत् है, नित्य है और अनित्य भी है। अतः सर्वथा सत्, असत्, नित्य, अनित्य इत्यादि एकान्तवादों का निरसन करके वस्तु का स्वरूप कथंचित्, सत्, असत्, नित्य, अनित्य निर्धारित करना अनेकान्त है। पारस्परिक विचार-संघर्ष को दूर कर शान्ति को चिरस्थायी बनाने का यह एक अमोघ अस्त्र है। इस स्थिति में यह परापवादक कैसे हो सकता है—

नेत्रै निरीक्ष्य बिलकण्टक, कीटसर्पान् ।
सम्यक् यथा व्रजति, तत्परि हृत्य सर्वान् ॥
कुज्ञान कुश्रुति कुमार्ग, दृष्टि दोषान्,
सम्यक् विचारयत, कोऽत्र परापवादः ॥

स्याद्वाद मे 'स्यात्' शब्द कथंचित् अर्थ का द्योतक है। यह शब्द संशय, सम्भावना, कदाचित् अथवा अनिश्चित अर्थ का प्रतीक नहीं, प्रत्युत अपेक्षाकृत दृष्टि से सुनिश्चित अर्थ की अभिव्यक्ति करने वाला है। इसमें स्व-पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से वस्तु के सन्दर्भ मे विचार किया जाता है। वस्तु के नित्या-नित्यात्मक भेद-भेदात्मक, एकानकात्मक आदि तत्वो को स्याद्वाद एक सुनिश्चित दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि मे उपस्थित करता है।

वस्तु की तीन अवस्थाये रहती है। सर्वप्रथम उसकी उत्पत्ति होती है, उसके बाद भिन्न-भिन्न पर्यायो मे परिणमन रूप विकास दिखाई देता है जिसे व्यय कहते हैं इस परिणमन अथवा व्यय की अवस्था मे कुछ तत्व ऐसे भी रहते हैं जिनमें परिवर्तन नही होता। इन अपरिवर्तनशील तत्वो को ध्रौव्य कहा जाता है। इस सिद्धान्त को सुस्पष्ट करने के लिए शीलाकाचार्य ने एक परम्परागत प्रसिद्ध उदाहरण दिया है—

घटमौलिसुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्य, जनो याति सहेतुकम् ॥

सप्तभङ्गी

शब्द मे विधेयात्मक और निषेधात्मक प्रवृत्ति हुआ करती है। पदार्थ में ये दोनों प्रकार के तत्व अनन्तरूप से विद्यमान हैं। उनका कथन प्रकार सप्तभङ्गी द्वारा करने का प्रयत्न किया गया है। एक वस्तु में अविरुद्धरूप् प्रत्यक्ष और अनुमान से अविरुद्ध विधि और निषेध की कल्पना को सप्तभङ्गी कहा जाता है। तत्त्वार्थराजवार्तिक में सप्तभङ्ग इस प्रकार से निर्दिष्ट हैं।

1. विधिकल्पना (स्यादस्ति) ।
2. प्रतिषेधकल्पना (स्यान्नास्ति) ।
3. क्रमशः विधि प्रतिषेध–कल्पना (स्यादस्तिनास्ति) ।
4. युगपद् विधि प्रतिषेध-कल्पना (स्यादवक्तव्यम्) ।
5. विधिकल्पना और युगपद् विधि प्रतिषेधकल्पना (स्यादस्ति अवक्तव्यम्) ।
6. प्रतिषेध-कल्पना और युगपद् विधि प्रतिषेध-कल्पना (स्यान्नास्ति अवक्तव्यम्) ।
7. क्रमशः और युगपद् विधि प्रतिषेध- कल्पना (स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्यम् ।

इन सात भङ्गो के अतिरिक्त आठवा भङ्ग होना सम्भव नहीं । इन भंगों में मूलत. तीन भङ्ग है । तीन वस्तुओ का सम्मिश्रण वैज्ञानिक आधार पर सात वस्तुओं से अधिक वस्तुओ की उत्पत्ति नही कर सकता । इसलिए सात भङ्गो से अधिक भङ्ग हो नही सकत । सात भङ्गो के क्रम-विधान मे आचार्यो के बीच मतभेद दिखाई देता है ।

सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द ने सात भङ्गो का नामोल्लेख मात्र किया है । उनमे से प्रवचनसार (गाथा 2.23) मे स्यादवक्तव्य को तृतीय भङ्ग और स्यादस्ति नास्ति को चतुर्थ भङ्ग माना है किन्तु पञ्चास्तिकाय (गाथा 14) मे स्यादस्तिनास्ति को तृतीय और अवक्तव्य को चतुर्थ भङ्ग माना है । इसी तरह अकलंकी ने अपने तत्त्वार्थवार्तिक म दो स्थलो पर सप्तभङ्गी का कथन किया ह । उनमे से एक स्थल (पृ. 353) पर उन्होने प्रवचनसार का क्रम अपनाया है और दूसरे स्थल (पृ. 33) पर पञ्चास्तिकाय का । सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम (अ. 5/31 सू.) और विशेषावश्यक भाष्य (गा. 2232) मे प्रथम क्रम अपनाया गया है । किन्तु आप्तमीमांसा (कारिका 14), तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ. 128), प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ. 682), प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार (परि. 4, सू. 17-18), स्याद्वादमजरी (पृ. 189), सप्तभङ्गीतरङ्गिणी (पृ. 2) और नयोपदेश (पृ. 12) म दूसरा क्रम अपनाया गया है । इससे लगता है कि दार्शनिक क्षेत्र मे स्यादस्ति-नास्ति को तृतीय और स्यादवक्तव्य को चतुर्थ भङ्ग मानकर सप्तभङ्गी का उल्लेख किया है । वस्तुतः स्यादस्ति-नास्ति को तृतीय भङ्ग मानना कही अधिक उचित है । शायद यह शीलांक को भी स्वीकार रहा होगा । उनके द्वारा उल्लिखित भङ्गो से यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है ।

(1) क्रिया स्थानो के वर्णन के प्रसग मे चार विभङ्गो का उल्लेख है—

1. सज्ञिनो वेदनामनुभवन्ति विदन्ति च,
2. सिद्धास्तु विदन्ति नानुभवन्ति,
3. असज्ञिनोऽनुभवन्ति न पुनर्विदन्ति,
4. अजीवास्तु न विदन्ति नाप्यनुभवन्ति ।

(2) भिक्षु के परकृतपरिनिष्ठित आहार के संदर्भ में निम्नलिखित चार भङ्ग हैं-

1. तत्थकृतं तत्थेव य निष्ठितं।
2. तत्थकृतं अन्नत्थ निष्ठितं।
3. अन्नत्थ कृतं तत्थेव निष्ठितं।
4. अन्नत्थ कृतं अन्नत्थ निष्ठितं।

बौद्ध-साहित्य में भी ये चारों भङ्ग दिखाई देते हैं। संजय वेलट्ठिपुत्त और गौतम बुद्ध की चतुष्कोटियां प्रसिद्ध ही हैं। मंक्खलिगोशाल का त्रैराशिक-सिद्धांत का भी इस सन्दर्भ में उल्लेख किया जा सकता है। चतुष्कोटिकसिद्धांत की अपेक्षा त्रिकोटिक सिद्धांत प्राचीनतर होना चाहिए। मज्झिमनिकाय में निगण्ठनातपुत्त के अनुयायी दीघनख परिव्राजक के कथन में यह त्रिकोटिक प्रश्न विशेष उल्लेखनीय है—

1. सव्वं मे खमति (स्यादस्ति)।
2. सव्वं मे न खमति (स्यान्नास्ति)
3. एकच्चं मे खमति, एकच्चं मे न खमति (स्यादस्ति-नास्ति)।

इस उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'स्यादस्ति-नास्ति' नामक भङ्ग की गणना तृतीय भङ्ग के रूप में होनी चाहिए।

2. ध्यान का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

मानवीय विज्ञानों में मनोविज्ञान आज एक अत्यन्त लोकप्रिय विषय हो गया है। व्यक्ति की प्रत्येक क्रिया का सम्बन्ध उसके मन से जोड़ा जाता है। यह तथ्य-संगत है भी। जीव की मानसिक अवस्था का ही चित्रण निस्संदेह उसकी दैनिक क्रियाओं में होता है। भाव, उद्वेग, संवेग, स्मृति, कल्पना, विस्मृति, अनुभव, आवत ध्यान, प्रत्यक्षीकरण आदि प्रसंगों से वह सम्बद्ध रहता है। यही उसका क्षेत्र है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते है कि मनोविज्ञान प्राणी की क्रियाओं अथवा उसके व्यवहारों का अध्ययन प्रस्तुत करता है।

जैन दर्शन में वर्णित ध्यान का क्षेत्र भी मनोविज्ञान के उक्त क्षेत्र से पृथक् नहीं।

प्राचीन काल में मनोविज्ञान दर्शन के साथ बंधा हुआ था। परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान ने दर्शन के क्षेत्र से हटकर अपना स्वतंत्र अस्तित्व बना लिया है। दर्शन के क्षेत्र में संसार और मोक्ष की बात आती है। परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान साधारणतः इससे दूर है। यद्यपि वहां संवेग आदि भावों का सुन्दर विश्लेषण मिलता है परन्तु कर्म जैसे सिद्धांतों से उसका सीधा सम्बन्ध नहीं। तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाये तो स्थूलतः आधुनिक मनोविज्ञान और जैन दर्शन का ध्यान से सम्बन्धित मनोविज्ञान समान रूप से व्यक्ति के मन अथवा मानसिक क्रियाओं पर केन्द्रित है।

ध्यान का लक्षण जैन साहित्य में "एकाग्र चिन्ता निरोधो" कहा गया है।[1] यहां चिन्ता का तात्पर्य है अन्त. करण व्यापार—चिन्ता अन्तःकरण वृत्तिः।[2] गमन, भोजन, शयन, अध्ययन आदि विविध क्रियाओं में भटकने वाली चित्तवृत्ति का एक क्रिया में रोक देना निरोध है। अग्र का तात्पर्य प्रधान के अतिरिक्त "अङ्गतीति अग्रम आत्मा" कहा गया है। इस व्युत्पत्ति से ध्यान का तात्पर्य है प्रधान आत्मा को लक्ष्य बनाकर चिन्ता का निरोध करना। इसमें बाह्य चिन्ताओं से निवृत्ति होती है और स्वकीय वृत्ति में प्रवृत्ति होती है।[3]

ध्यान की परिभाषा में ध्यान के अतिरिक्त ध्याता और ध्येय (आलंबन-विषय) भी समाविष्ट है अर्थात् किसी आलम्बन पर जब ध्याता अन्तःकरण की व्यापारिक क्रियाओं को केन्द्रित करता है तब हम उसे ध्यान कहते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान में भी ध्यान की परिभाषा यही दी गई है।[4]

जैन धर्म मे ध्यान के चार प्रकार किये गये हैं—आर्त्त ध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म ध्यान, और शुक्ल ध्यान।[5] "विष, शत्रु, शस्त्र आदि दुखद अप्रिय वस्तुओ से मिल जाने पर ये मुझ से कैसे दूर हो" इस प्रकार की सबल चिन्ता करना आर्त्त ध्यान है। इसमें क्रन्दन, दीनता, अश्रु बहाना और विलाप करना जैसे लक्षण मिलते है। बाधक तत्वो के आने पर स्वभावतया व्यक्ति का मन और उसकी क्रियायें उन तत्वो को दूर करने मे जुट जाती है। दूर करने की चेष्टाओ मे जब शक्ति क्षीण हो जाती है तब वह रोने चिल्लाने लगता है। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत अरुचिकर संयोग को वियुक्त करना, रुचिकर सयोग को पृथक् न होने देना, सम्प्रयुक्त होने पर उसके विप्रयोग की स्मृति से समन्वागत होना और प्रीति जनक काम भोगो के सम्प्रयोग से सम्प्रयुक्त होने पर उनके अविप्रयोग की स्मृति से समन्वागत होना, ये चार प्रकार के मनोभाव दिखाई देते है।[6] इनके होने पर व्यक्ति का मन सदैव दूषित

---

1. उत्तम संहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्—तत्वार्थ सूत्र 9. 26.
2. तत्वार्थ वार्तिक 9. 27. 4.
3. वही—9. 27. 29
4. चित्तवृत्तियो को सभी पदार्थों से हटाकर किसी एक विशेष पदार्थ अथवा विषय पर केन्द्रित कर लेना, ध्यान है—मनोविज्ञान, पं. जगदानन्द पांडेय पृष्ठ 277
5. तत्वार्थ सूत्र 9. 28.
6. वही 9. 30.

और दुःखी बना रहता है। और तो क्या, तीव्र कामादि वासना में आसक्त व्यक्ति धर्म में भी विषय सुखों की आकांक्षा कर निदान बांध लेता है। ये चारों आर्त ध्यान कृष्ण नील और कापोत लेश्या वालों के होते हैं। ये अज्ञान मूलक तीव्र पुरुषार्थजन्य, पाप प्रयोगाधिष्ठान, नाना संकल्पों से आकुल, विषय-तृष्णा से व्याप्त, धर्माश्रय परित्यागी कषायी, असंयत बहुल प्रमादी अकुशल कर्म कर्ता होते हैं।[1]

रौद्र ध्यान हिंसा, असत्य, चोरी और धनादि वस्तुओं के संरक्षण के भाव से उत्पन्न होता है। इसमें व्यक्ति हिंसादि पापों से अहर्निश प्रवृत्त बना रहता है, उनसे दूर होने की चेष्टा नहीं करता, उन पापों को धर्म मानता रहता है और मरण पर्यन्त भी पाप का पश्चात्ताप नहीं करता। ये मनोवृत्तियां अति कृष्ण, नील और कापोत लेश्या वालों की होती हैं। इस कारण जीव नरकगामी होता है। रौद्र ध्यान देशव्रती के भी बताया गया है परन्तु चूंकि वह सम्यक्-दृष्टि होता है इसलिए उसका रौद्र ध्यान नरकादि गतियों का कारण नहीं होता। यह निश्चित है कि जहां हिंसा, असत्य, चोरी आदि जैसी संक्लेशमयी दुष्प्रवृत्तियां होती है वहां व्यक्ति के मन मे धार्मिक प्रवृत्ति का होना संभव नहीं होता। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है।

धर्म ध्यान (धार्मिक विषय पर चिंतन) चार प्रकार का है- आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाक विचय और संस्थान विचय।[2] जिनेन्द्र के वचनों के गुणों का चिंतन करना और तदनुसार पदार्थों का निश्चय करना आज्ञाविचय है। राग-द्वेषादि से उत्पन्न होने वाले दोषों की पर्यालोचना तथा सन्मार्ग के बाधक तत्त्वों पर विचार करना अपायविचय ध्यान है। ज्ञानावरण आदि अष्ट कर्मों के द्रव्य, क्षेत्र, काल भव और भाव निमित्तक फलानुभवन का विचार विपाक विचय है। और लोक के स्वभाव संस्थान आदि के स्वरूप पर विचार करना धर्मध्यान कहलाता है। इन समूचे भेदों मे जिन-सिद्धान्तों पर चिंतन, मनन और अनुकरण करने की प्रवृत्ति रखना उनका मुख्य कार्य प्रतीत होता है। उत्तम क्षमादि दस धर्मों से ओत-प्रोत होने के कारण यह धर्मध्यान कहलाता है। चौथे, पांचवें और छठें गुण-स्थान वर्ती जीव इसके स्वामी होते हैं। यह ध्यान सम्यक्दर्शन पूर्वक होता है। आज्ञारुचि निसर्ग रुचि, उपदेश रुचि और सूत्र रुचि ये धर्म ध्यान के चार लक्षण है। वाचना, प्रतिपृच्छना, परिवर्तना और धर्म कथा, ये चार उसके आधार हैं। अनित्य, अशरण, एकत्व और संसार, ये चार धर्म ध्यान की अनुप्रेक्षायें हैं। यहां तक जीव जिनेन्द्र के

---

1. तत्त्वार्थवार्तिक 9. 33.
2. आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम्, तत्त्वार्थसूत्र, 9. 36

उपदेशों पर चलकर बहुत कुछ निर्मोही हो जाता है और उसकी मानसिक प्रवृत्तियाँ सांसारिक भावनाओं से दूर हो जाती हैं।[1]

शुक्ल ध्यान में साधक आत्मतत्व में चित्त को स्थिर करता है। शुक्ल ध्यान के चार भेद बताये गये हैं—पृथक्त्व वितर्क सविचारी (द्रव्य के अवलम्बन से भेद पर विचार करना), एकत्व वितर्क अविचारी (द्रव्य की किसी एक पर्याय का अभेद रूप से चिंतन करना), सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति (उच्छ्वास आदि सूक्ष्म क्रियाओं से निवृत्ति न पाने के पूर्व उत्पन्न होने वाला ध्यान), व्युपरत क्रिया निवृत्ति अथवा समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाति (श्वासोच्छ्वास आदि समस्त क्रियाओं के बंद हो जाने से प्रकट हुई निश्चल अवस्था)।[2] विवेक, व्युत्सर्ग, अव्यथा, और असम्मोह, ये शुक्ल ध्यान के चार लक्षण हैं। क्षांति, मुक्ति, आर्जव और मार्दव ये चार उसके अवलम्बन हैं। अपायानुप्रेक्षा, अशुभानुप्रेक्षा, अनन्त वृत्तितानुप्रेक्षा और विपरिणामानुप्रेक्षा ये चार उसकी अनुप्रेक्षायें हैं। शुक्ल ध्यान का प्रथम ध्यान आठवें गुणस्थान से ग्यारहवें गुण-स्थान तक, दूसरा ध्यान तेरहवे गुणस्थान मे, तीसरा ध्यान तेरहवें गुण स्थान के अन्तिम भाग मे और चौथा ध्यान चौदहवे गुणस्थान मे होता है। प्रथम दो ध्यान सालंबन होने के कारण श्रुतज्ञानी के होते हैं तथा शेष दो ध्यान निरालम्बन होने के कारण केवलज्ञानी के होते हैं।[3]

ध्यान के उपर्युक्त चार भेदो में व्यक्ति के विकास की अवस्थायें प्रदर्शित की गई हैं। ध्यान का स्वरूप जैनेतर दर्शनो मे भी वर्णित है, परन्तु मानव के विकासात्मक विधान की समरचनायें उनमे दिखाई नहीं देती। जैनधर्म के ध्यान की यह सबसे बड़ी विशेषता है।

जैन दर्शन की दृष्टि से आत्मा का स्वरूप यद्यपि मूलतः विशुद्ध माना गया है, परन्तु विविध कर्मों के संसर्ग से वह अविशुद्ध होता जाता है। संसार की सर्वाधिक अशुद्ध भावना का प्रतीक प्रथम आर्त ध्यान है और उससे कुछ कम द्वितीय रौद्र ध्यान है। ये दोनो आर्त और रौद्र ध्यान अप्रशस्त माने गये हैं। शेष अन्तिम दो ध्यान प्रशस्त माने जाते हैं और वे मुक्ति के कारण हैं।

अप्रशस्त और प्रशस्त ध्यानो के बीच की एक ऐसी संक्रमण अवस्था है जहाँ साधक की मानसिक चेतना पापमयी वासना से कुछ सीमा तक दूर हो जाती है और वह मानवीय धर्म की ओर अपना पग बढ़ाने का प्रयत्न करता है इस अवस्था में जैन दार्शनिक ने मनोवैज्ञानिक ढंग से पूर्ववर्ती असद् प्रवृत्तियों में सद् प्रवृत्तियों

---

1. तत्त्वार्थ वार्तिक, 9. 36.
2. तत्त्वार्थसूत्र, 9. 36.
3. वही, 9. 37.38.

को प्राप्त करने का अनोखा ढंग अपनाया है। [illegible] व्यक्ति विशेष की रुचि, [illegible], प्रवृत्तियाँ, [illegible] आदि का [illegible] करता है और शनैः शनैः उसे जिनशासन के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता है। उत्तम क्षमादि दस गुणों का यहीं उपदेश दिया जाता है इस अवस्था में व्यक्ति जैन सिद्धान्तों का मर्मज्ञ और परिपालक बन जाता है। यहीं उसकी धार्मिक अवस्था प्रकट हो जाती है। ध्यान चूंकि चंचल होता है इसलिए उससे विरत रखने के लिए धर्म विषयक कथा साहित्य का प्रयोग किया जाता है। धर्मध्यान को सुस्थिर रखने के लिए उसकी वस्तु निष्ठ दशाओं (तीव्रता, आकार, गति, अवस्थित रूप, नवीनता प्रकुंचन) पर मनोवैज्ञानिक ढंग से विचार किया जाता है।

इस प्रकार जैन दर्शन में वर्णित ध्यान के स्वरूप का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ध्यान व्यक्ति की अशुद्ध मानसिक अवस्था का विशुद्ध मानसिक अवस्था की ओर क्रमिक विकास है।

3. जैन भूगोल

समग्र भारतीय वाङ्मय की ओर दृष्टिपात करने से यह निष्कर्ष निकालना अनैतिहासिक नहीं होगा कि उसका प्रारम्भिक रूप श्रुति परम्परा के माध्यम से पीढ़ी दर पीढ़ी गुजरता हुआ उस समय संकलित होकर सामने आया जबकि उसके आधार पर काफी साहित्य निर्मित हो चुका था। यह तथ्य वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों संस्कृतियों के प्राचीन ग्रन्थों के उलटने से उद्घाटित होता है। ऐसी स्थिति में प्राचीन सूत्रों में अपनी आवश्यकता परिस्थिति और सुविधा के अनुसार परिवर्तन और परिवर्धन होता ही रहा है। वेद, प्राकृत और जैन आगम तथा त्रिपिटक साहित्य का विकास इस तथ्य का निदर्शन है।

इसी प्रकार यह तथ्य भी हमसे छिपा नहीं है कि तीनों संस्कृतियों ने अपने साहित्य मे तत्कालीन प्रचलित लोक कथाओं और लोक गाथाओं का अपने-अपने ढंग से उपयोग किया है। यही कारण है कि लोक कथा साहित्य की [illegible] कथायें कुछ हेर-फेर के साथ तीनो संस्कृतियों के साहित्य में प्रयुक्त हुई हैं।

इन कथा सूत्रों के मूल उत्स को खोजना सरल नहीं है। किस सूत्र को किसने कहां से लेकर आत्मसात किया है इसे निर्विवाद रूप से कहा नहीं किया जा सकता। इसलिए यह मानकर अवश्य अधिक उचित होगा कि इस प्रकार के कथा सूत्र लोक कथाओं के अंग रहे होंगे जिनका उपयोग सभी धर्माचार्यों ने अपने धार्मिक सिद्धांतों के प्रतिपादन की पृष्ठभूमि में किया है।

जहां तक भौगोलिक मान्यता का प्रश्न है, यह विषय भी कम विवादास्पद नहीं। तीनों संस्कृतियों के भौगोलिक सिद्धांतों का उत्स एक ही रहा होगा जिसे लगता है, कुछ परिवर्तन के साथ अपने-अपने ढंग से विकसित कर लिया। इस

संदर्भ में जब हम भारतीय भौगोलिक ज्ञान के ऊपर दृष्टिपात करते हैं—तब हम उसके विकासात्मक स्वरूप को आठ प्रमुख युगों में विभाजित कर सकते हैं—

1. सिंधु सभ्यता काल (आदिकाल से लेकर 1500 ई. पू. तक)
2. वैदिक काल (2000 ई. पू. तक)
3. संहिता काल (1500 ई. पू. तक)
4. उपनिषद् काल (1500 ई. पू. से 600 ई. पू. तक)
5. रामायण–महाभारत काल (1600 से ई. पू. से 600 ई. पू. तक)
6. जैन-बौद्ध काल (600 ई. पू. से 200 ई. तक)
7. नया पौराणिक काल (200 से 800 ईसवी तक)
8. मध्यकाल (800 से लगभग 16 वी शताब्दि तक)

भारतीय भौगोलिक ज्ञान का यह काल विभाजन एक सामान्य दृष्टि से किया गया है। इन कालों मे मूल भौगोलिक परम्परा का विकास सुनिश्चित रूप से हुआ है।

भूगोल (Geography) यूनानी भाषा के दो पदों Ge तथा grapho से मिलकर बना है। ge का अर्थ पृथ्वी और grapho का अर्थ वर्णन करना है। इस प्रकार geograpoy की परिधि मे पृथ्वी का वर्णन किया जाता है।

भूगोल जिसे हम साधारणत: पौराणिकता के साथ जोड़ते चले आये है, आज हमारे सामने एक प्रगतिशील विज्ञान के रूप मे खड़ा हो गया है। उसका उद्देश्य और अध्ययन काफी विस्तृत होता चला जा रहा है। उद्देश्य के रूप मे उसने मानव की उन्नति और कल्याण के क्षेत्र मे अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है इसलिए आज वह अन्तरवैज्ञानिक (Ihterdisciplinary) विषय बन गया है।

जैसे-जैसे भूगोल के अध्ययन का विकास होता गया विद्वानो ने उसे परिभाषाओं मे बांधने का प्रयत्न किया है। ऐसे विद्वानो में एकरमैन, ल्यूकरमैन, यीट्स रिट्टर, हेटनर, आदि विद्वान प्रमुख है जिनकी परिभाषाओं के आधार पर भूगोल की निम्नलिखित परिभाषा प्रस्तुत की जाती है—',भूगोल वह विज्ञान है जो पृथ्वी का अध्ययन तथा वर्णन मानवीय संसार या मानवीय निवास के रूप में, 1. क्षेत्रों या स्थानो की विशेषताओ 2. क्षेत्रीय विविधताओं तथा 3. स्थानीय संबन्धों की पृष्ठ-भूमि में करता है। इस प्रकार भूगोल पृथ्वी पर वितरणों का विज्ञान है (Science ot distribution on Earth) है।

—mohkhause, F. D.
—A Dictionary ot geography, London,
—भौगोलिक विचार धारायें एवं विधितंत्र-डॉ: कौशिक.

इस परिभाषा के आधार पर, यह कहा जा सकता है, भूगोल की अध्ययन सीमा में पृथ्वीतल का अध्ययन प्रमुख है। इस कथ्य में चार तथ्य सम्मिलित हैं—

1. पृथ्वीतल पर समस्त थल खण्डों और महासागरों के तल।

2. पृथ्वीतल से थोड़ी गहराई तक का सीमा प्रभावकारी पर्त।

3. वायुमंडल, विशेषतः वायु मंडल का निचला पर्त, जिसमें ऋतु जलवायु की विभिन्नतायें होती हैं।

4. पृथ्वी के सौर सम्बन्ध।

पृथ्वी को केन्द्र में रखकर जर्मनी, फ्रांस, अमेरिका सोवियत संघ आदि देशों में काफी शोध हुये हैं और हो रहे हैं। वहां के विद्वानों की भौगोलिक विचार धाराओं को हम एक दूसरे की परिपूरकता के संदर्भ में समझ सकते हैं। उनके अध्ययन में दो पक्ष उभरकर सामने आते हैं—

1. वातावरण और परिस्थिति विज्ञान
2. प्रादेशिक विभिन्नतायें और मानवीय प्रगति तथा कल्याण में असमानतायें और असंतुलन।

इस संदर्भ में जब हम प्राचीन भूगोल और अर्वाचीन भूगोल की समीक्षा करते हैं तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि प्राचीन भूगोल कतिपय कोरी कल्पनाओं पर आधारित रहा है और आधुनिक भूगोल वैज्ञानिक तथ्यों पर अवलंबित है जहां मानवीय साधनों की क्षमता और योग्यता पर अधिक बल दिया जाता है। प्राचीन भूगोल आर्थिक प्रगति से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रखता जबकि आधुनिक भूगोल का तो यह केन्द्रीय तत्व ही है। इसलिए आधुनिक भूगोल को व्यावहारिक भूगोल applied Geography कहा जाने लगा है। इसमें मुख्य रूप से—1. समूह व्यवहार—Group Gehaviour तथा व्यावहारिक क्षेत्र में मानसिक समायोजन जैसे तत्वों पर विशेष विचार किया जाता है।

प्रारंभ से ही भूगोल का उद्देश्य और उपयोग व्यक्ति और समाज का हित साधन रहा है चाहे वह आध्यात्मिक रहा हो या लौकिक। आधुनिक व्यावहारिक भूगोल में आध्यात्मिक दृष्टि का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। इसलिए व्यावहारिक भूगोल की परिभाषा साधारण तौर पर इस प्रकार की जाती है—'समाज की आवश्यकताओं की पूर्तियों के लिए भौगोलिक वातावरण के समस्त सां साधनों का विवेकपूर्ण उपयोग करने के लिए भौगोलिक आधार-विचार ज्ञानपद्धतियों एवं तकनीकों का व्यावहारिक उपयोग ही व्यवहारिक भूगोल है।''

इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि व्यावहारिक भूगोल का उपयोग समाज के हित के लिए किया जाता है और इसीलिए इसके अध्ययन की परिधि में समाज,

स्थानात्मक संचालन का अध्ययन आता है इसे हम निम्नलिखित वर्गीकरण के माध्यम से समझ सकते हैं—

1. भौतिक अध्ययन—भू आकृति, जलवायु, समुद्री विज्ञान आदि इसके अन्तर्गत आता है।

2. आर्थिक अध्ययन—इसमें कृषि, औद्योगिक, व्यापार, यातायात, पर्यटन आता है।

3. सामाजिक सांस्कृतिक अध्ययन—इसमें जनसंख्या, अधिवास (बसती, नगरीय, राजनीतिक, प्रादेशिक, सैनिक आदि का अध्ययन होता है।

4. अन्य शाखायें—जीव, (वनस्पति), चिकित्सा मान चित्रकला आदि का अध्ययन होता है।

जैन भूगोल यद्यपि पौराणिकता को लिए हुए है फिर भी उसका यदि हम वर्गीकरण करें तो हम व्यावहारिक भूगोल के उपर्युक्त अध्ययन प्रकरणों से सम्बद्ध सामग्री को आसानी से खोज सकते हैं। इस दृष्टि से यह एक स्वतंत्र शोध-प्रबंध का विषय है।

जैसा हमने पहले कहा है जैन-भूगोल प्रश्न चिह्नों से दब गया है। आधुनिक भूगोल से वह निश्चित ही समग्र रूप से मेल नहीं खाता, इसका तात्पर्य यह नहीं कि जैन भूगोल का समूचा विषय अध्ययन और उपयोगिता के बाहर है। इस परिस्थिति में हमारा अध्ययन वस्तुपरकता की माँग करता है। आधुनिक श्रद्धा को वैज्ञानिक अन्वेषणों के साथ यदि हम पूरी तरह से न जोड़ें और तब तक रुक जायें जब तक उन्हें वैज्ञानिक स्वीकार न कर लें तो हम उन्मुक्त मन से दोनों पहलुओं को और उनके आयामों को परिधि के भीतर रख सकते हैं।

जम्बूद्वीप तीनों संस्कृतियों में स्वीकार किया गया है भले ही उसकी सीमा के विषय में विवाद रहा हो। जैन संस्कृति में तो इसका वर्णन इतने अधिक विस्तार से मिलता है जितना जैनेतर साहित्य में नहीं मिलता। पर्वत, गुफा, नदी, वृक्ष, अरण्य देश, नगर आदि का वर्णन पाठक को हैरान कर देता है। इसका प्रथम वर्णन स्थानांग और समवायांग में मिलता है। इन दोनों ग्रंथों के आधार पर जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति और चन्द्र प्रज्ञप्ति की रचना हुई है। इन सभी ग्रंथों को हम लगभग ५ वीं शताब्दी की रचना कह सकते हैं। आचार्य यतिवृषभ की तिलोय पण्णत्ति भी इसी समय के आसपास की रचना होनी चाहिए। श्री पं. फूलचन्द सिद्धांत शास्त्री इस रचना को विक्रम संवत् 873 के बाद की रचना मानते हैं जबकि श्री पं. जुगलकिशोर मुख्तार इसे इसकी सन् के आसपास रखने का प्रयास करते हैं।

जम्बूद्वीप जैन संस्कृति में समस्त तथा अर्थात् मध्य लोक का सामान्यतया जिसे सात क्षेत्रों में विभक्त किया गया है। इसके सारे संदर्भों को रखने की यहां आवश्यकता नहीं है पर इतना अवश्य है कि पर्वत, नदी, नगर आदि की जो स्थितियां करणानुयोग में वर्णित हैं उन्हें आधुनिक भूगोल के परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयत्न किया जावे उदाहरण के तौर पर जम्बूद्वीप को यूरेशिया खंड से यदि पहिचाना जाय तो शायद उसकी अवस्थिति किसी सीमा तक स्वीकार की जा सकती है। इसी तरह सुमेरु को पामेर की पर्वत श्रेणियों के साथ रखा जा सकता है। हिमवान को हिमालय, निषध को हिन्दुकुश, नील को अलाई नाम, शिखरी को सायान से मिलाया जा सकता है। रम्यक को मध्य एशिया या दक्षिणी-पश्चिमी सीक्यांग, हैरण्यवत को उत्तरी सीक्यांग, उत्तर कुरु को रूस तथा साइबेरिया से तुलना की जाये तो संभव है हम इन स्थलों की पहिचान कर सकते हैं। इसी प्रकार और स्थलों की भी तुलना करना उपयोगी होगा।

इस प्रकार जैन भूगोल को आधुनिक भूगोल के व्यावहारिक पक्ष के साथ रखकर हम यह निष्कर्ष निकालना चाहते हैं कि जैन भूगोल का अमूर्त पक्ष कोरा बकवास नहीं है उसके पारिभाषिक शब्दों को आधुनिक संदर्भों के साथ यदि मिलाकर समझने की कोशिश की जाय तो संभव है कि हम काफी सीमा तक जैन भौगोलिक परम्परा को आत्मसात् कर सकेंगे।

जैन भूगोल के साथ सर्वज्ञता को नहीं जोड़ा जाना चाहिए। सर्वज्ञता का सम्बन्ध आत्मा और परमात्मा के साथ अधिक उचित प्रतीत होता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि सर्वज्ञ को त्रिलोक से कोई लेना-देना नहीं रहा। जैन धर्मा-चार्यों ने पर लोक का वर्णन करते समय त्रिलोक का विस्तृत वर्णन किया है। इतना ही नहीं, लोकाकाश के अतिरिक्त अलोकाकाश का भी विवेचन प्रस्तुत किया है जो आज के वैज्ञानिक जगत में सही-सा उतर रहा है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र आदि का जो भी आलेखन जैन साहित्य में हुआ है वह आज भी लगभग खरा सिद्ध हो रहा है। कुछ बातें अवश्य ऐसी सामने आ रही हैं जो मूलतः गलत लगने लगी हैं आज के वैज्ञानिक शोध के संदर्भ में। पृथ्वी थाली के आकार जैसी चपटी है, सूर्य उसका परिभ्रमण करता है आदि जैसे कुछ मुद्दों ने जैन भूगोल को ही नहीं, बल्कि बौद्ध, वैदिक, क्रिश्चियन आदि अन्य धर्मों की मान्यताओं को भी झकझोर दिया है। इससे ऐसा लगता है कि आचार्यों ने अपने समय में प्रचलित कुछ भौगोलिक मान्यताओं को परिवर्तन-परिवर्धन के साथ अपना लिया था। यही कारण है कि तीनों-चारों संस्कृतियों में कतिपय तत्वों का विवेचन लगभग समान उपलब्ध होता है।

इसी तरह इहलोक का वर्णन करते समय जैनाचार्यों ने मध्यलोक का विस्तृत वर्णन किया है। इस प्रसंग में उन्होंने पर्वतों, नदियों, नगरों को भी साथ लिया है

और उनकी सूक्ष्म विशेषताओं की ओर भी संकेत किया है। जम्बूद्वीप का लम्बा चौड़ा वर्णन और उसमें भी भरत क्षेत्र को एक छोटा-सा भूखण्ड बतलाने में पाठक चकित-सा हो जाता है और फिर विदेह जैसे उपलब्ध देशों-प्रदेशों को श्रद्धा के कोणों से जोड़ दिया जाने पर तो वह और भी चिपक जाता है। इस संदर्भ में मेरा सुझाव है कि जिन तथ्यों को हम अस्वीकार नहीं कर सकते और जो अब विशेषाभासी प्रतीत होने लगे हैं उनकी तथ्यात्मकता को स्वीकार करने में संकोच नहीं होना चाहिए।

जैन भौगोलिक साहित्य में भी काव्यात्मकता का प्रयोग किया गया है। कवि अपने कवित्व से पीछे खिसक नहीं सकता। इसलिए उसने नदियों पर्वतों आदि के वर्णन में भी कवित्व का भरपूर उपयोग किया है। उनके छोटे-से आकार-प्रकार को भी बृहदाकार का रूप दे दिया है। फिर जो भी प्रथम आचार्य ने लिख दिया उसके मूल स्वरूप को स्वीकार कर, उसी की परिधि में रहकर उसका वर्णन किया जाता रहा है। उस वर्णन में जहां भी वह अतिशयोक्ति का प्रयोग कर सका, किया है।

इतनी बड़ी कालावधि में नदियों के रूप तथा उनके मार्ग भी परिवर्तित हुए हैं। नामों में भी अन्तर आया है। यह हम भलीभांति जानते हैं। फिर जैन कवियों ने इन नामों का अनुवाद भी कर दिया अपनी आवश्यकतानुसार। प्रतीकों का भी उपयोग किया नगर भी ध्वस्त हुए हैं और निर्मित हुए हैं। ऐसी स्थिति में प्राचीन भौगोलिक वर्णन आधुनिक भौगोलिक स्थिति के आलोक में कुछ डगमगाता-सा यदि नजर आये तो उससे घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है। उसे उलटा-सीधा सिद्ध करने की अपेक्षा अथवा वर्तमान भूगोल को अपलापित करने की अपेक्षा कदाग्रह छोड़कर स्वीकार कर लेना अधिक अच्छा है। वैज्ञानिक धरातल को छोड़कर अप्रत्यक्ष और अज्ञात यथास्थिति के परिपालन में अपनी शक्ति को लगाये रखने का कोई विशेष अर्थ नहीं दिखता। बल्कि इसका प्रतिफल यह और हो सकता है कि नई पीढ़ी उससे और दूर होती चली जाये। इसलिए धार्मिक मान्यता और वैज्ञानिक मान्यता के बीच जो सामंजस्य प्रस्थापित हो जाये उसे स्वीकार कर लिया जाना चाहिए और जो विरोध नजर आये उसे मात्र मान्यता की परिधि में निहित कर देना चाहिए। संभव है, आगे का विज्ञान उसे भी सिद्ध कर दे।

---

4 जैन रहस्यवाद

व्यक्ति और सृष्टि के सर्जक तत्त्वों की गवेषणा एक रहस्यात्मक [illegible] है और संभवत: इसीलिये चिन्तकों और शोधकों में यह विषय विवादास्पद बना रहा है। अनुभव के माध्यम से किसी सत्य और परम आराध्य को खोजना इसकी मूलप्रवृत्ति रही है। इस मूलप्रवृत्ति की परिपूर्ति में साधक की जिज्ञासा और तर्कप्रधान बुद्धि विशेष योगदान देती है। यहीं से दर्शन का जन्म होता है।

इसमें साधक स्वयं के मूल रूप में केन्द्रित साध्य की प्राप्ति का सुनिश्चित लक्ष्य निर्मित कर लेता है। साध्य की प्राप्ति काल में व्यक्तित्व का निर्माण होता है और इस व्यक्तित्व की सर्जना में अध्यात्म चेतना का प्रमुख हाथ रहता है।

मानव स्वभावतया सृष्टि के रहस्य को जानने का तीव्र इच्छुक रहता है। उसके मन मे सदैव यह जिज्ञासा बनी रहती है कि इस सृष्टि का रचयिता कौन है? शरीर का निर्माण कैसे होता है ? शरीर के अन्दर वह कौन सी शक्ति है, जिसके अस्तित्व से उसमें स्पंदन होता है और जिसके अभाव में उस स्पंदन का लोप हो जाता है? यदि इस शक्ति को आत्मा या ब्रह्म कहा जाय तो वह नित्य है अथवा अनित्य? उसके नित्यत्व अथवा अनित्यत्व की स्थिति में कर्मों का क्या सम्बन्ध है और कर्मों से मुक्ति पाने पर उस शक्ति का क्या स्वरूप है? रहस्यवाद के ये केन्द्रबिन्दु है और इन प्रश्न किन्हीं का समाधान जैन-सिद्धान्त में अत्यन्त सुलझे और सरल ढंग से अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर किया गया है।

इस रहस्यवाद की धुरी के अन्वेषण में हर देश में विविध प्रयत्न किये जाते है और उन प्रयत्नों का एक विशेष इतिहास बना हुआ है। हमारी भारत भूमि पर वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक दार्शनिकों ने इन प्रश्नों पर चिन्तन-मनन किया है और उसका निष्कर्ष ग्रन्थों के पृष्ठों पर अंकित किया है। उपनिषद् काल में इस रहस्यवाद पर विशेष रूप से विचार प्रारम्भ हुआ और इसकी परिणति तत्कालीन अन्य भारतीय दर्शनों में व्याप्त हुई। यद्यपि इसका इतिहास सिन्धुकाली

में प्राप्त योगी की मूर्तियों में भी देखा जा सकता है, परन्तु जब तक उसकी लिपि का परिज्ञान नहीं होता, इस सन्दर्भ में निश्चित नहीं का जा सकता। मुंडकोपनिषद् के ये शब्द चिंतन की भूमिका पर बार-बार उतरते हैं जहां पर कहा गया है कि ब्रह्म न नेत्रों से, न वचनों से, न तप से और न कर्म से गृहीत होता है। विशुद्ध प्राणी उस ब्रह्म को ज्ञान-प्रसाद से साक्षात्कार करते हैं—

न चक्षुषा गृह्यते, नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञान—प्रसादेन विशुद्ध सत्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कले ध्यायमानः ॥

रहस्यवाद का यह सूत्र पालि-त्रिपिटक और प्राचीन जैनागमों मे भी उपलब्ध होता है। मज्झिमनिकाय का यह सन्दर्भ जैन-रहस्यवाद की प्राचीनता की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है, जिसमें कहा गया है कि निगण्ठ अपने पूर्व कर्मों की निर्जरा तप के माध्यम से कर रहे हैं। इस सन्दर्भ से स्पष्ट है कि जैन सिद्धांत मे आत्मा के विशुद्ध रूप को प्राप्त करने का अथक प्रयत्न किया जाता था। ब्रह्म जालसुत में अप-रान्तदिट्ठि के प्रसंग में भगवान बुद्ध ने आत्मा को अरूपी और नित्य स्वीकार किये जाने के सिद्धांत का उल्लेख किया है। इसी सुत्त में जैन-सिद्धांत की दृष्टि में रहस्य वाद व अनेकान्तवाद का भी पता चलता है।

रहस्यवाद के इस स्वरूप को किसी ने गुह्य माना और किसी ने स्वसवेद्य स्वीकार किया। जैन संस्कृति में मूलतः इसका "स्वसंवेद्य" रूप मिलता है जब कि जैनेतर संस्कृति में गुह्य रूप का प्राचुर्य देखा जाता है। जैन सिद्धांत का हर कोना स्वयं की अनुभूति से भरा है उसका हर पृष्ठ निजानुभव और चिदानन्द चैतन्यमय रस से आप्लावित है। अनुभूति के बाद तर्क का भी अपलाप नहीं किया गया बल्कि उसे एक विशुद्ध चिंतन के धरातल पर खड़ा कर दिया गया। भारतीय दर्शन के लिए तर्क का यह विशिष्ट स्थान-निर्धारण जैन संस्कृति का अनन्य योगदान है।

रहस्य भावना का क्षेत्र असीम है। उस अनन्तशक्ति के स्रोत को खोजना ससीम शक्ति के सामर्थ्य के बाहर है। अतः असीमता और परम विशुद्धता तक पहुंच जाना तथा चिदानन्द-चैतन्यरस का पान करना साधक का मूल उद्देश्य रहता है। इसलिए रहस्यवाद किंवा दर्शन का प्रस्थान बिन्दु संसार है जहां प्रात्यक्षिक और अप्रात्यक्षिक सुख-दुःख का अनुभव होता है और साधक चरम लक्ष्य रूप परम विशुद्ध अवस्था की प्राप्त करता है। वहां पहुंचकर वह कृतकृत्य हो जाता है और अपना भवचक्र समाप्त कर लेता है। इस अवस्था की प्राप्ति का मार्ग ही रहस्य बना हुआ है।

उक्त रहस्य को समझने और अनुभूति में लाने के लिए निम्नलिखित प्रमुख तत्वों को आधार बनाया जा सकता है :—

1. जिज्ञासा या कौतूहल,
2. संसारचक्र में भ्रमण करनेवाले आत्मा का स्वरूप,
3. संसार का स्वरूप,
4. संसार से मुक्त होने के उपाय और
5. मुक्त-अवस्था की परिकल्पना।

आदिकाल से ही रहस्यवाद अगम्य, अगोचर गूढ़ और दुर्बोध्य माना जाता रहा है। वेद, उपनिषद्, जैन और बौद्ध साहित्य में इसी रहस्यात्मक अनुभूतियों का विवेचन उपलब्ध होता है यह बात अलग है कि आज का रहस्यवाद उस समय तक प्रचलित न रहा हो। 'रहस्य' सर्वसाधारण विषय है। स्वकीय अनुभूति उसमें संगठित है। अनुभूतियों की विविधता मत वैभिन्य को जन्म देती है। प्रत्येक अनुभूति वाद-विवाद का विषय बना है। शायद इसीलिए एक ही तथ्य को पृथक् पृथक् रूप में उसी प्रकार अभिव्यंजित किया गया जिस प्रकार छह अंधों के द्वारा हाथी के अंगो पांगों की विवेचना कवियों ने इस तथ्य को सरल और सरस भाषा में प्रस्तुत किया है। उन्होंने परमात्मा के प्रति प्रेम और उसकी अनुभूति को "गूंगे काला—गुड़" बताया है—

'अकथ कहानी प्रेम की कछु कही न जाय।
गूंगे केरि सरकरा, बैठा मुसकाई।"

जैन रहस्यवाद परिभाषा और विकास

रहस्यवाद शब्द अंग्रेजी "Mysticism" का अनुवाद है, जिसे प्रथमत: सन् 1920 में श्री मुकुटधर पांडेय ने छायावाद विषयक लेख में प्रयुक्त किया था। प्राचीन काल में इस सन्दर्भ में आत्मवाद अथवा अध्यात्मवाद शब्द का प्रयोग होता रहा है। यहां साधक आत्मा परमात्मा, स्वर्ग, नरक, राग-द्वेष आदि के विषय में चिन्तन करता था। धीरे-धीरे आचार और विचार का समन्वय हुआ और दार्शनिक चिन्तन आगे बढ़ने लगा। कालान्तर में दिव्य शक्ति की प्राप्ति के लिए परमात्मा के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुकरण और अनुसरण होने लगा। उस 'परम' अस्तित्व के प्रति भाव उमड़ने लगे और उसका साक्षात्कार करने के लिए विविध मार्गों का आचरण किया जाने लगा। जैनदर्शन की रहस्यभावना किंवा रहस्यवाद भी इसी पृष्ठभूमि में दृष्टव्य है।

रहस्यवाद की परिभाषा समय, परिस्थिति और चिन्तन के अनुसार परिवर्तित होती रही है। प्राय: प्रत्येक दार्शनिक ने स्वयं से सम्बन्धित दर्शन के अनुसार पृथक् रूप से चिंतन और आराधन किया है और उसी साधना के बल पर अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। इस दृष्टि से रहस्यवाद की परिभाषाएं भी उनके अपने ढंग से अभिव्यंजित हुई हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने भी रहस्यवाद की

परिभाषा पर विचार किया है। बर्ट्रेन्डरसेल का कहना है कि रहस्यवाद ईश्वर को समझने का प्रमुख साधन है। इसे हम स्वसंवेद्य ज्ञान कह सकते हैं जो तर्क और विश्लेषण से भिन्न होता है।[1] फ्लीडर रहस्यवाद को आत्मा और परमात्मा के एकत्व की प्रतीति मानते हैं।[2] प्रिंगिल पेटीसन के अनुसार रहस्यवाद की प्रतीति चरम सत्य के ग्रहण करने के प्रयत्न में होती है। इससे आनन्द की उपलब्धि होती है। बुद्धि द्वारा चरम सत्य को ग्रहण करना उसका दार्शनिक पक्ष है और ईश्वर के साथ मिलन का आनन्द-उपभोग करना उसका धार्मिक पक्ष है ईश्वर एक स्थूल पदार्थ न रहकर एक अनुभव हो जाता है।[3] यहां रहस्यवाद अनुभूति के ज्ञान की उच्चतम अवस्था मानी गयी है। आधुनिक भारतीय विद्वानों ने भी रहस्यवाद की परिभाषा पर मंथन किया है। रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'ज्ञान के क्षेत्र में जिसे अद्वैत-वाद कहते हैं भावना के क्षेत्र में वही रहस्यवाद कहलाता है। डॉ. रामकुमार वर्मा ने रहस्यवाद की परिभाषा की है—"रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शांत और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है। यह सम्बन्ध यहां तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता।"[4]

और भी अन्य आधुनिक विद्वानों ने रहस्यवाद की परिभाषाएं की है। उन परिभाषाओं के आधार पर रहस्यवाद की सामान्य विशेषताएं इस प्रकार कही जा सकती हैं—

1. आत्मा और परमात्मा में ऐक्य की अनुभूति।
2. तादात्म्य।
3. विरह-भावना।
4. भक्ति, ज्ञान और योग की समन्वित साधना।
5. सद्गुरु और उनका सत्संग।

प्रायः ये सभी विशेषताएं वैदिक संस्कृति और साहित्य में अधिक मिलतीहैं। जैन रहस्यवाद मूलतः इन विशेषताओं से कुछ थोड़ा भिन्न था। उक्त परिभाषाओं में साधक ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पित हो जाता है। पर जैन धर्म ने ईश्वर का

---

1. Mysticism and Logic, Page 6-17
2. Mysticism in Religion, P 25
3. भक्तिकाव्य में रहस्यवाद—डॉ. रामनारायण पाण्डेय, पृ. 6
4. कबीर का रहस्यवाद, पृ. 9

हम इस काल को सामान्यतः जैन धर्म के आविर्भाव से लेकर प्रथम शती तक निश्चित कर सकते हैं। जैन परम्परा के अनुसार तीर्थंकर आदिनाथ ने इसमें साधना पद्धति का स्वरूप दिया। उसी के आधार पर उत्तर कालीन तीर्थंकर और आचार्यों ने अपनी साधना की। इस सन्दर्भ में हमारे सामने दो प्रकार की रहस्य-साधनाएं साहित्य में उपलब्ध होती हैं —1. पार्श्वनाथ परम्परा की रहस्य साधना, और 2. निगंठ नातिपुत्त परम्परा की रहस्य साधना।

भगवान पार्श्वनाथ जैन परम्परा के 23 वे तीर्थंकर कहे जाते हैं। उनके भगवान महावीर, जिन्हे पालि साहित्य में निगण्ठनातपुत्त के नाम से स्मरण किया गया है, लगभग 250 वर्ष पूर्व अवतरित हुए थे। त्रिपिटक मे उनके साधनात्मक रहस्यवाद को चातुर्याम संवर के नाम से अभिहित किया गया है। ये चार संवर इस प्रकार अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह है उत्तराध्ययन आदि ग्रन्थो मे भी इनका विवरण मिलता है। पार्श्वनाथ के इन व्रतो मे से चतुर्थ व्रत मे ब्रह्मचर्य व्रत अन्तर्भूत था। पार्श्वनाथ के परिनिर्वाण के बाद इन व्रतो के आचरण में शैथिल्य आया और क्रमशः समाज ब्रह्मचर्य व्रत से पतित होने लगा। पार्श्वनाथ की इस परम्परा को जैन परम्परा में 'पार्श्वस्थ' अथवा 'पासत्थ' कहा गया है।

निगण्ठनाथपुत्त अथवा महावीर के आने पर इस आचारशैथिल्य को परखा गया। उसे दूर करने के लिए महावीर ने अपरिग्रह का विभाजन कर निम्नांकित पच व्रतों को स्वीकार किया—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। महावीर के इन पंचव्रतों का उल्लेख जैन आगम साहित्य मे तो आता ही है पर उनकी साधना के जो उल्लेख पालि साहित्य मे मिलते हैं। वे ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं।[1] इस सन्दर्भ मे यह उल्लेखनीय है कि श्री प. पदमचन्द शास्त्री ने आगमो के ही आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि पार्श्वनाथ के पंच महाव्रत थे, चातुर्याम नही (अनेकान्त, जून 1977)। इस पर अभी मथन होना शेष है।

महावीर की रहस्यवादी परम्परा अपने मूलरूप मे लगभग प्रथम सदी तक चलती रही। उसमे कुछ विकास अवश्य हुआ, पर वह बहुत अधिक नहीं। यहां तक आते-आते आत्मा के तीन स्वरूप हो गये। अन्तरात्मा, बहिरात्मा और परमात्मा। साधक बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्मा के माध्यम से परमात्मपद को प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में आत्मा और परमात्मा में एकाकारता हो जाती है—

1. विशेष देखिये—डॉ. भागचन्द जैन भास्कर का ग्रन्थ 'जैनिज्म इन बुद्धिस्ट लिटरेचर, तृतीय अध्याय-जैन ईथिक्स

तिपयारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो हु देहीणं।
तत्थ परो झाइज्जइ, अंतोवाएण चयहि बहिरप्पा ॥[1]

जैन रहस्यवाद के इतिहास के मूल-सर्जक और प्रस्थापक आचार्य हैं कुन्द-कुन्द, जिनके ग्रंथ आत्मा के मूल स्वरूप को प्राप्त करने का रहस्य प्रस्तुत करते हैं। जैन-दर्शन में हर आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति निहित है इस दृष्टि से यहां आत्मा के तीन भेद बतलाये हैं—अन्तरात्मा, बहिरात्मा और परमात्मा। इन्द्रियों से परे मन के द्वारा देखा जाने वाला "मैं हूं" इस स्वसंवेदन स्वरूप अन्तरात्मा होता है। इन्द्रियों के स्पर्शनादि द्वारा पदार्थज्ञान कराने वाला बहिरात्मा है और ज्ञानावरणादिक द्रव्य कर्म, रागद्वेषादिक भावकर्म, शरीरादिक नोकर्म रहित अनन्त-ज्ञानादिक गुण सहित परमात्मा होता है। अन्तरात्मा के उपाय से बहिरात्मा का परित्याग करके परमात्मा का ध्यान किया जाता है। यह परमात्मा परमतत्त्व स्थित, सर्व कर्म विमुक्त, शाश्वत और सिद्ध है—

"तिपयारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो हु देहीणं।
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण चयहि बहिरप्पा ॥
"अक्खाणि बहिरप्पा अन्तर अप्पाहु अप्पसंकप्पो।
कम्मकलंक विमुक्को परमप्पा भण्णए देवो ॥[2]

इस दृष्टि से कुन्दकुन्दाचार्य निस्संदेह प्रथम रहस्यवादी कवि कहे जा सकते हैं। उन्होंने समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार आदि ग्रन्थों में इसका सुन्दर विश्लेषण किया है। ये ग्रन्थ प्राचीन जैन अंग साहित्य पर आधारित रहे हैं जहां आध्यात्मिक चेतना को जाग्रत करने का स्वर गुञ्जित होता है। आचारांग मूल प्राचीनतम अंग ग्रन्थ है। यहां जैन धर्म मानव धर्म के रूप में अधिक मुखर हुआ है। वहां 'आरिएहिं'' शब्द से प्राचीन परम्परा का उल्लेख करते हुए समता को ही धर्म कहा है—समियाए धम्मे आरिएहिं पवेविते।

आचारांग का प्रारम्भ वस्तुतः "इय मेगेसिणो सण्णा भवइ" (इस संसार में किन्हीं जीवों को ज्ञान नहीं होता) सूत्र से होता है इस सूत्र में आत्मा का स्वरूप तथा संसार में उसके भटकने के कारणों की ओर इंगित हुआ है। 'संज्ञा' (चेतना) शब्द अनुभव और ज्ञान को समाहित किये हुये हैं। अनुभव मुख्यतः सोलह प्रकार के होते हैं—आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, शोक, मोह, सुख, दुःख,

---

1. मोक्खपाहुड—कुन्दकुन्दाचार्य 4
   ज. पार्श्व के पंच महाव्रत-अनेकांत, वर्ष 30, किरण 1, पृ. 23-27, जून मार्च 1977
2. मोक्खपाहुड

मोह विचिकित्सा, शोक और भय। ज्ञान के पांच भेद है—मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय और केवलज्ञान। इस सूत्र में विशिष्ट ज्ञान के अभाव की ही बात की गई है। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि व्यक्ति संसार में मोहादिक कर्मों के कारण भटकता रहता है। जो साधक यह जान लेता है वही व्यक्ति आत्मज्ञ होता है। उसी को मेधावी और कुशल कहा गया है। ऐसा साधक कर्मों से बंधा नहीं रहता। वह तो समभावी बनकर विकल्प जाल से मुक्त हो जाता है। यहां अहिंसा, सत्य आदि का विवेचन मिलता है पर उसका वर्गीकरण नहीं दिखाई देता। उसी तरह कर्मों और उनके प्रभावों का वर्णन तो है पर उसके भेद-प्रभेदों का वर्णन दिखाई नहीं देता। कुन्दकुन्दाचार्य तक आते-आते इन धर्मों का कुछ विकास हुआ जो उनके ग्रंथों में प्रतिबिम्बित होता है।

2. मध्यकाल

कुन्दकुन्दाचार्य के बाद उनके ही पद चिन्हों पर आचार्य उमास्वाति, समन्तभद्र, सिद्धसेन दिवाकर, मुनि कार्तिकेय, अकलंक, विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र, मुनि योगेन्दु आदि आचार्यों ने रहस्यवाद का अपनी सामयिक परिस्थितियों के अनुसार विश्लेषण किया। यह दार्शनिक युग था। उमास्वाति ने इसका सूत्रपात किया था और माणिक्यनन्दी ने उसे चरम विकास पर पहुचाया था। इस बीच जैन रहस्यवाद दार्शनिक सीमा में बद्ध हो गया। इसे हम जैन दार्शनिक रहस्यवाद भी कह सकते हैं। दार्शनिक सिद्धान्तों के अन्य विकास के साथ एक उल्लेखनीय विकास यह था कि आदिकाल मे जिस आत्मिक प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष कहा गया था और इन्द्रिय प्रत्यक्ष को परोक्ष कहा गया था, उस पर इस काल मे प्रश्न-प्रतिप्रश्न खड़े हुए। उन्हें सुलझाने की दृष्टि से प्रत्यक्ष के दो भेद किये गये- सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष। यहां निश्चय नय और व्यवहार नय की दृष्टि से विश्लेषण किया गया। साधना के स्वरूप में भी कुछ परिवर्तन हुआ।

इस काल में वस्तुतः साधना का क्षेत्र विस्तृत हुआ। आत्मा के स्वरूप की खूब मीमांसा हुई। उभयात्मकता पर अधिक जोर दिया गया, कर्मों के भेद-प्रभेद पर चिंतन हुआ और ज्ञान-प्रमाण को भी चर्चा का विषय बनाया गया। दर्शन के सभी अंगों पर तर्कनिष्ठ ग्रन्थो की भी रचना हुई। पर इस युग मे साधना का वह रूप नहीं दिखाई देता जो आरम्भिक काल में था। साधना का तर्क के साथ उतना सामञ्जस्य बैठता भी नहीं है। इसके बावजूद दर्शन के साथ साधना और भक्ति का निर्झर सूख नहीं पाया बल्कि सुधारात्मक तत्वों के साथ वह भक्ति आन्दोलन का रूप ग्रहण करता गया। इस काल में दार्शनिक उथल-पुथल बहुत हुई और क्रिया काण्ड की ओर प्रवृत्तियां बढ़ने लगीं। "अप्पा सो परमप्पा" अथवा" सब्बे सुद्ध हु

पुत्र एवा" जैसे वाक्यों को ऐकान्तिक दृष्टि की ओर खींचा जाने लगा। निश्चय नय और व्यवहार नय के समन्वय की ओर ध्यान देकर किसी एक पक्ष की ओर भुकाव अधिक हो गया। इस संदर्भ में स्वयम्भू स्तोत्र के स्वामी समन्तभद्र का कथन दृष्टव्य है जहाँ वे कहते हैं कि हे भगवन् ! आपकी हमारी पूजा से कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि आप वीतराग हैं और न आपको निन्दा से कोई प्रयोजन है, क्योंकि आपने वैरभाव को समूल नष्ट कर दिया है, फिर भी हम श्रद्धा-भक्ति पूर्वक जो भी आपके गुणों का स्मरण करते हैं वह इसलिए कि ऐसा करने से पाप वासनाओं और मोह-राग द्वेषादि भावों से मलिन मन तत्काल पवित्र हो जाता है।

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्य गुण स्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः॥

इस युग में मुनि योगेन्दु का भी योगदान उल्लेखनीय है। इनका समय यद्यपि विवादास्पद है फिर भी हम उसे लगभग 8 वीं 9 वी शताब्दी तक निश्चित कर सकते हैं। इनके दो महत्वपूर्ण ग्रंथ निर्विवाद रूप से हमारे सामने हैं—(1) परमात्मसार और (2) योगसार। इन ग्रंथो मे कवि ने निरंजन आदि कुछ ऐसे शब्द दिये हैं जो उत्तरकालीन रहस्यवाद के अभिव्यंजक कहे जा सकते हैं। इन ग्रन्थों में अनुभूति का प्राधान्य है इसलिए कहा गया है कि परमेश्वर से मन का मिलन होने पर पूजा आदि क्रियाकर्म निरर्थक हो जाते हैं, क्योंकि दोनों एकाकार होकर समरस हो जाते हैं।

मणु मिलियउ परमेसरहं, परमेसरु वि मणस्स।
बीहि वि समरसि हुवाह पुज्ज चडावउं कस्स॥ योगसार, 12

3. उत्तरकाल

उत्तरकाल मे रहस्यवाद की आचारगत शाखा में समयानुकूल परिवर्तन हुआ। इस समय तक जैनसंस्कृति पर वैदिक साधकों, राजाओ और मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा घनघोर विपदाओं के बादल छा गये थे। उनसे बचने के लिए आचार्य जिनसेन ने मनुस्मृति के आचार को जैनीकृत कर दिया, जिसका विरोध दसवी शताब्दी के आचार्य सोमदेव ने अपने यशस्तिलकचम्पू में सत्वस्वर में ही किया। इससे लगता है, तत्कालीन समाज उस व्यवस्था को स्वीकार कर चुकी थी। जैन रहस्यवाद की यह एक और सीढ़ी थी, जिसने उसे वैदिक संस्कृति के नजदीक ला दिया।

जिनसेन और सोमदेव के बाद रहस्यवादी कवियों में मुनि रामसिंह का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। उनका 'पाहुड दोहा' रहस्यवाद की परिभाषाओं से भरा पड़ा है। शिव-शक्ति का मिलन होने पर अद्वैतभाव की स्थिति आ जाती है और मोह विलीन हो जाता है।

सिव विणु सत्ति ण वावइ सिउ पुणु सत्ति विहीणु।
दोहिं मि जाणहि सयलु-जगु वुज्झइ मोह विलीणु ।।वही 55 ।।

मुनि रामसिंह के बाद रहस्यात्मक प्रवृत्तियों का कुछ और विकास होता गया। इस विकास का मूल कारण भक्ति का उद्रेक था। इस भक्ति का चरम उत्कर्ष महाकवि बनारसीदास जैसे हिन्दी जैन कवियों में देखा जा सकता है। नाटक समयसार, मोहविवेक—युद्ध, (बनारसीदास) आदि ग्रंथों में उन्होंने भक्ति, प्रेम और श्रद्धा के जिस समन्वित रूप को प्रस्तुत किया है वह देखते ही बनता है। 'सुमति' को पत्नी और चेतन को पति बनाकर जिस आध्यात्मिक विरह को उकेरा है, वह स्पृहणीय है। आत्मा रूपी पत्नि और परमात्मा रूपी पति के वियोग का भी वर्णन अत्यन्त मार्मिक बन पड़ा है। अन्त में आत्मा को उसका पति उसके घर अन्तरात्मा में ही मिल जाता है। इस एकत्व की अनुभूति को महाकवि बनारसीदास ने इस प्रकार वर्णित किया है—

पिय मोरे घट मैं पिय माहि। जल तरंग ज्यों दुविधा नाहिं ।।
पिय मो करता मैं करतूति। पिय ज्ञानी मैं ज्ञान विभूति ।।
पिय सुख सागर मैं सुख-सींव। पिय सुख-मंदिर मै शिव-नींव ।।
पिय ब्रह्म मैं सरस्वति नाम। पिय माधव मो कमला नाम ।।
पिय शकर मैं देवि भवानि। पिय जिनवर मैं केवल बानि ।।[1]

ब्रह्म—साक्षात्कार रहस्यवादात्मक प्रवृत्तियों में अन्यतम है। जैन साधना में परमात्मा को ब्रह्म कह दिया गया है। बनारसीदास ने तादात्म्य अनुभूति के सन्दर्भ मे अपने भावो को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है—

"बालक तुहु तन चितवन गागरि कूटि,
अचरा गो फहराय सरम गै छूटि, बालम ।।1।।
पिय सुधि पावत बन मे पैसिउ पेलि,
छाड़त राज डगरिया भयउ अकेलि, बालम ।।"2।।[2]

रहस्य भावनात्मक इन प्रवृत्तियो के अतिरिक्त समग्र जैन साहित्य मे, विशेषरूप से हिन्दी जैन साहित्य में और भी प्रवृत्तिया सहज रूप में देखी जा सकती हैं। वहां भावनात्मक और साधनात्मक दोनों प्रकार के रहस्यवाद उपलब्ध होते हैं। मोह- राग द्वेष आदि को दूर करने के लिए सत्गुरु और सत्संग की आवश्यकता तथा मुक्ति प्राप्त करने के लिए सम्यक् दर्शन-ज्ञान और चरित्र की समन्वित साधना की अभिव्यक्ति हिन्दी जैन रहस्यवादी कवियों की लेखनी से बड़ी ही सुन्दर, सरल

1. बनारसीविलास, पृ. 161.
2. वही, पृ. 228.

भाषा में प्रस्फुटित हुई है। इस दृष्टि से सकलकीर्ति का आराधना प्रतिबोधसार, जिनदास का चेतनगीत, जगतराम का आगमविलास, भवानीदास का 'चेतन सुमति सज्झाय' भगवतीदास का योगीरासा, रूपचंद का परमार्थगीत' द्यानतराय का द्यानतविलास, आनन्दघन का आनन्दघन बहोत्तरी, भूधरदास का भूधरविलास आदि ग्रंथ विशेष उल्लेखनीय हैं।

आध्यात्मिक साधना की चरम परिणति रहस्य की उपलब्धि है। इस उपलब्धि के मार्गों में साधक एक मत नहीं। इसकी प्राप्ति में साधकों ने शुभ-अशुभ अथवा कुशल-अकुशल कर्मों का विवेक खो दिया। बौद्ध-धर्म के सहजयान, मंत्रयान, तंत्रयान वज्रयान आदि इसी साधना के वीभत्स रूप हैं। वैदिक साधनाओं में भी इस रूप के दर्शन स्पष्ट दिखाई देते हैं। यद्यपि जैन धर्म भी इससे अछूता नहीं रहा परन्तु यह सौभाग्य की बात है कि उसमे श्रद्धा और भक्ति का अतिरेक तो अवश्य हुआ, विभिन्न मन्त्रों और सिद्धियों का आविष्कार भी हुआ किन्तु उन मंत्रों और सिद्धियों की परिणति वैदिक अथवा बौद्ध संस्कृतियों मे प्राप्त उस वीभत्स रूप जैसी नहीं हुई। यही कारण है कि जैन संस्कृति के मूल स्वरूप अक्षुण्ण तो नहीं रहा पर गर्हित स्थिति मे भी नही पहुंचा।

जैन रहस्य भावना के उक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि जैन रहस्यवादी साधना का विकास उत्तरोत्तर होता गया है, पर वह विकास अपनी मूल साधना के स्वरूप से उतना दूर नही हुआ जितना बौद्ध साधना का स्वरूप अपने मूल स्वरूप से उत्तरकाल मे दूर हो गया। यही कारण है कि जैन रहस्यवाद ने जैनेतर साधनाओं को पर्याप्त रूप से प्रबल स्वरूप मे प्रभावित किया।

प्रस्तुत प्रबन्ध को आठ परिवर्तों में विभक्त किया गया है। प्रथम परिवर्त में मध्यकाल की सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि का अवलोकन है। सामान्यतः भारतीय इतिहास का मध्यकाल सप्तम शती से माना जाता है परन्तु जहां तक हिन्दी साहित्य के मध्य काल की बात है उसका काल कब से कब तक माना जाये, यह एक विचारणीय प्रश्न है। हमने इस काल की सीमा का निर्धारण वि. सं. 1400 से वि. सं. 1900 तक स्थापित किया है। वि. सं. 1400 के बाद कवियो को प्रेरित करने वाले सांस्कृतिक आधार में वैभिन्य दिखाई पड़ता है। फलस्वरूप जनता की चित्तवृत्ति और रुचि में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप जनता की रुचि जीवन से उदासीन और भगवत् भक्ति में लीन होकर आत्म कल्याण करने की ओर उन्मुख थी इसलिए कविगण इस विवेच्य काल में भक्ति और अध्यात्म सम्बन्धी रचनायें करते दिखाई देते हैं। जैन कवियो की इस प्रकार की रचनायें लगभग वि. सं. 1900 तक मिलती हैं अतः इस सम्पूर्ण काल को मध्यकाल नाम देना ही अनुकूल प्रतीत होता है। इसके पश्चात् हमने मध्यकाल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की [illegible]

रूपरेखा प्रस्तुत की है। जिसके अन्तर्गत राजनीतिक धार्मिक और सामाजिक पृष्ठ भूमि को स्पष्ट किया है। इसी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में हिन्दी जैन साहित्य का निर्माण हुआ है।

द्वितीय परिवर्त में हिन्दी जैन साहित्य के आदिकाल की चर्चा की गई है। इस संदर्भ में हमने अपभ्रंश भाषा और साहित्य को भी प्रवृत्तियों की दृष्टि से समाहित किया है। यह काल दो भागों में विभक्त किया है—साहित्यिक अपभ्रंश और अपभ्रंश परवर्ती लोक भाषा या प्रारम्भिक हिन्दी रचनाएं। प्रथम वर्ग के स्वयंभूदेव, पुष्पदंत आदि कवि हैं और द्वितीय वर्ग में शालिभद्र सूरि जिन-पद्मसूरि आदि विद्वान उल्लेखनीय हैं। भाषागत विशेषताओं का भी संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया है।

अपभ्रंश भाषा और साहित्य ने हिन्दी के आदिकाल और मध्यकालको बहुत प्रभावित किया है। उनकी सहज-सरल भाषा, स्वाभाविक वर्णन और सांस्कृतिक धरातल पर व्याख्यायित दार्शनिक सिद्धांतों ने हिन्दी जैन साहित्य की समग्र कृतियो पर अमिट छाप छोड़ी है। भाषिक परिवर्तन भी इन ग्रन्थो में सहजता पूर्वक देखा जा सकता है। हिन्दी के विकास की यह आद्य कड़ी है। इसलिए अपभ्रंश की कतिपय मुख्य विशेषताओं की ओर दृष्टिपात करना आवश्यक हो जाता है।

तृतीय परिवर्त मे मध्यकालीन हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियों पर विचार किया गया है। इतिहासकारो ने हिन्दी साहित्य के मध्यकाल को पूर्व-मध्यकाल (भक्तिकाल) और उत्तरमध्यकाल (रीतिकाल) के रूप मे वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया है। चूंकि भक्तिकाल में निर्गुण और सगुण विचारधारायें समानान्तर रूप से प्रवाहित होती रही हैं तथा रीतिकाल मे भी भक्ति सम्बन्धी रचनायें उपलब्ध होती हैं। अतः हमने इसका धारागत विभाजन न करके काव्य प्रवृत्यात्मक वर्गीकरण करना अधिक सार्थक माना। जैन साहित्य का उपर्युक्त विभाजन और भी संभव नहीं क्योंकि वहां भक्ति से सम्बद्ध अनेक धारायें मध्यकाल के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक निर्बाध रूप से प्रवाहित होती रही हैं। इतना ही नहीं, भक्ति का काव्य स्रोत जैन आचार्यों और कवियों की लेखनी से हिन्दी के आदिकाल मे भी प्रवाहित हुआ है। अतः हिन्दी के मध्ययुगीन जैन काव्यों का वर्गीकरण काव्यात्मक न करके प्रवृत्यात्मक करना अधिक उपयुक्त समझा। इस वर्गीकरण में प्रधान और गौण दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का आकलन हो जाता है।

जैन कवियों और आचार्यों ने मध्यकाल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में बैठकर अनेक साहित्यिक विधाओं को प्रस्फुटित किया है। उनकी इस अभिव्यक्ति को हमने निम्नांकित काव्य रूपों में वर्गीकृत किया है—

1. प्रबन्ध काव्य—महाकाव्य, खण्डकाव्य, पौराणिक काव्य, कथा काव्य चरित काव्य, रासा साहित्य आदि।
2. रूपक काव्य—होली, विवाहलो, वेलमकर्म चरित आदि
3. अध्यात्म और भक्तिमूलक काव्य—स्तवन, पूजा, चौपाई, जयमाला, चौपर, फागु, चूनड़ी, वेलि, संख्यात्मक, बारहमासा आदि।
4. गीति काव्य—विविध प्रसंगों और फुटकर विषयों पर निर्मित गीत
5. प्रकीर्णक काव्य—लाक्षणिक, कोश, गुर्वावली, आत्मकथा आदि।

उपर्युक्त प्रवृत्तियों को समीक्षात्मक दृष्टिकोण से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये सभी प्रवृत्तियां मूलतः आध्यात्मिक उद्देश्य को लेकर प्रस्फुटित हुई हैं। इन रचनाओं में आध्यात्मिक उद्देश्य प्रधान है जिससे कवि की भाषा आलंकारिक न होकर स्वाभाविक और सात्विक दिखती है। उसका मूल उत्स रहस्यात्मक अनुभव और भक्ति रहा है।

चतुर्थ परिवर्त रहस्यभावना के विश्लेषण से सम्बद्ध है। इसमें हमने रहस्य भावना और रहस्यवाद का अंतर स्पष्ट करते हुए रहस्यवाद की विविध परिभाषाओं का समीक्षण किया है और उसकी परिभाषा को एकांगिता के संकीर्ण दायरे से हटाकर सर्वांगीण बनाने का प्रयत्न किया है। हमारी रहस्यवाद की परिभाषा इस प्रकार है—"रहस्यभावना एक ऐसा आध्यात्मिक साधन है जिसके माध्यम से साधक स्वानुभूति पूर्वक आत्म तत्व से परम तत्व में लीन हो जाता है। यही रहस्यभावना अभिव्यक्ति के क्षेत्र में आकर रहस्यवाद कही जा सकती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि अध्यात्म की चरमोत्कर्ष अवस्था की अभिव्यक्ति का नाम रहस्यवाद है। यहीं हमने जैन रहस्य साधकों की प्राचीन परम्परा को प्रस्तुत करते हुए रहस्यवाद और अध्यात्मवाद के विभिन्न आयामों पर भी विचार किया है। इसी सन्दर्भ में जैन और जैनेतर रहस्यभावना में निहित अन्तर को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

यहां यह भी उल्लेख्य है कि जैन रहस्य साधना में आत्मा की तीन अवस्थायें मानी गयी है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा बहिरात्मा में जीव जन्म-मरण के कारण स्वरूप भौतिक सुख के चक्कर में भटकता रहता है। द्वितीयावस्था (अन्तरात्मा) में पहुंचने पर संसार के कारणों पर गम्भीरता पूर्वक चिन्तन करने से आत्मा अन्तरात्मा की ओर उन्मुख हो जाता है। फलतः वह भौतिक सुखों को क्षणिक और त्याज्य समझने लगता है। तृतीयावस्था (परमात्मा, ब्रह्मसाक्षात्कार) की प्राप्ति के लिए साधनात्मक और भावनात्मक प्रयत्न करता है। इन्हीं तीनों अवस्थाओं पर आगे के तीन अध्यायों में क्रमशः प्रकाश डाला है।

पंचम परिवर्त में रहस्यभावना के बाधक तत्वों को स्पष्ट किया गया है। रहस्यसाधना का चरमोत्कर्ष ब्रह्मसाक्षात्कार है। साहित्य में इसको आत्म-साक्षात्कार परमात्मपद, परम सत्य, अजर-अमर पद, परमार्थ प्राप्ति आदि नामों से उल्लिखित किया गया है। अतः हमने इस अध्याय में आत्म चिन्तन को रहस्यभावना का केन्द्र बिन्दु माना है। आत्मा ही साधना के माध्यम से स्वानुभूति पूर्वक अपने मूल रूप परमात्मा का साक्षात्कार करता है। इस स्थिति तक पहुंचने के लिए साधक को एक लम्बी यात्रा करनी पड़ती है। हमने यहाँ रहस्यभावना के मार्ग के बाधक तत्वों को जैन सिद्धांतों के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है। उनमें सांसारिक विषय-वासना शरीर से ममत्व, कर्मजाल, माया-मोह, मिथ्यात्व, बाह्याडम्बर और मन की चंचलता पर विचार किया है। इन कारणों से साधक बहिरात्म अवस्था में ही पड़ा रहता है।

षष्ठ परिवर्त रहस्यभावना के साधक तत्वों का विश्लेषण करता है। इस परिवर्त में सद्गुरु की प्रेरणा, नरभव दुर्लभता, आत्म- संबोधन, आत्मचिन्तन, चित्त शुद्धि, भेदविज्ञान और रत्नत्रय जैसे रहस्यभावना के साधक तत्वो पर मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य के आधार पर विचार किया गया है। यहां तक आते-आते साधक अन्तरात्मा की अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

सप्तम परिवर्त रहस्यभावनात्मक प्रवृत्तियों को प्रस्तुत करता है। इस परिवर्त में अन्तरात्मावस्था प्राप्त करने के बाद तथा परमात्मावस्था प्राप्त करने के पूर्व उत्पन्न होने वाले स्वाभाविक भावों की अभिव्यक्ति को ही रहस्यभावनात्मक प्रवृत्तियों का नाम दिया गया है। आत्मा की तृतीयावस्था प्राप्त करने के लिए साधक दो प्रकार के मार्गों का अवलम्बन लेता है—साधनात्मक और भावनात्मक। इन प्रकारों के अन्तर्गत हमने क्रमशः सहज साधना, योग साधना, समरसता प्रपत्ति—भक्ति, आध्यात्मिक प्रेम, आध्यात्मिक होली, अनिर्वचनीयता आदि से सम्बद्ध भावों और विचारों को चित्रित किया है।

अष्टम परिवर्त में मध्यकालीन हिन्दी जैन एवं जैनेतर रहस्यवादी कवियों का संक्षिप्त तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इस सन्दर्भ में मध्यकालीन सगुण. निर्गुण और सूफी रहस्यवाद की जैन रहस्यभावनाके साथ तुलना भी की गई है। इस सन्दर्भमें स्वानुभूति, आत्मा और ब्रह्म, सद्गुरु, माया, आत्मा-ब्रह्म का सम्बन्ध, विरहानुभूति, योग साधना, भक्ति, अनिर्वचनीयता आदि विषयों पर सांगोपांग रूप से विचार किया गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में मध्यकाल की सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि को हमने बहुत संक्षेप में ही उपस्थित किया है और काल विभाजन के विवाद एवं नामकरण में भी हम नहीं उलझे। विस्तार और पुनरुक्ति के भय से हमने आदि कालीन और मध्य

कालीन हिन्दी जैन साहित्य को उसका सामान्य प्रवृत्तियों में ही विभाजित करना उचित समझा। यह मात्र सूची जैसी अवश्य दिखाई देती है पर उसका अपना महत्व है। यहां हमारा उद्देश्य हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने वाले विद्वानों को प्रत्येक प्रवृत्तिगत महत्वपूर्ण काव्यों की गणना से अवगत कराना मात्र रहा है जिनका अभी तक हिन्दी साहित्य के इतिहास में किन्हीं कारणों वश उल्लेख नहीं हो पाया। उन प्रवृत्तियों के विस्तार में हम नहीं जा सके। जाना सम्भव भी नहीं था क्योंकि उसकी एक-एक प्रवृत्ति पृथक् पृथक् शोध प्रबन्ध की मांग करती प्रतीत होती है। तुलनात्मक अध्ययन को भी हमने संक्षिप्त किया है अन्यथा वह भी एक अलग प्रबन्ध-सा हो जाता। प्रस्तुत अध्ययन के बाद विश्वास है, रहस्यवाद के क्षेत्र में एक नया मानदण्ड प्रस्थापित हो सकेगा।

प्राय: हर जैन मंदिर में हस्तलिखित ग्रंथों का भण्डार है। परन्तु वे बड़ी बेरहमी से अव्यवस्थित पड़े हुए हैं। आश्चर्य की बात यह है कि यदि शोधक उन्हें देखना चाहे तो उसे पूरी सुविधायें नहीं मिल पातीं। हमने अपने अध्ययन के लिए जिन-जिन शास्त्र भंडारों को देखा, सरलता कहीं नहीं हुई। जो भी अनुभव हुए, उनसे यह अवश्य कहा जा सकता है कि शोधक के लिए इस क्षेत्र में कार्य करने के लिए प्रभूत सामग्री है पर उसे साहसी और सहिष्णु होना आवश्यक है।

अन्त में यहां पर लिखना चाहूंगी कि पृ. 243 (285) पर जो यह लिखा गया है कि न कोई निरंजन सम्प्रदाय था और न कोई हरीदास नाम का उसका संस्थापक ही था, गलत हो गया है। तथ्य यह है कि हरीदास (सं. 1512-95) इसके प्रवर्तक थे जिनका मुख्य कार्य क्षेत्र डीडवाना (नागौर) था; ऐसा डॉ० बाबावत ने लिखा है।

रहस्य भावना आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में वस्तुतः एक ऐसा असीमित तत्व है जिसमें संसार से लेकर संसार से विनिर्मुक्त होने की स्थिति तक साधक अनुचिन्तन और अनुप्रेक्षण करता रहता है। हिन्दी साहित्य के जायसी, कबीर, सूर, तुलसी, मीरा आदि जैसे रहस्यवादी जैनेतर साधक कवियों में भी यह तत्व इसी रूप में प्रतिबिम्बित होता है। उनके तथा जैन कवियों के विचारों में साम्य-वैषम्य खोजने का प्रयत्न हमने इस शोध प्रबन्ध में किया है।

मध्य कालीन हिन्दी जैन संतों में प्रपत्ति भावना के सभी अंग उपलब्ध होते हैं। अतिरिक्त श्रवण, कीर्तन, चितवन, सेवन, वन्दन, ध्यान, लघुता, समता, एकता, दास्यभाव, सख्यभाव आदि नवधा भक्ति तत्व भी मिलते हैं इन तत्वों की एक प्राचीन लम्बी परम्परा है। वेदों, स्मृतियों, सूत्रों, आगमों और पिटकों में इनका पर्याप्त विवेचन किया गया है। मध्यकालीन हिन्दी जैन और जैनेतर काव्य उनसे निःसंदेह प्रभावित दिखाई देते हैं। इन तत्वों में नामस्मरण विशेष उल्लेखनीय है। संसार-सागर के पार होने के लिए साधकों ने इसका विशेष आश्रय लिया है। सूफियों का मार्फत और वैष्णवों का आत्मनिवेदन दोनों एक ही मार्ग पर चलते हैं। श्रवण कीर्तन आदि प्रकार भी सूफियों के शरीयत, तरीकत, हकीकत और मार्फत आदि जैसे तत्वों में

साधनान्तरित हुए हैं। सूफियों, वैष्णवों और जैनों ने आत्मसमर्पण को समान स्तर पर स्वीकारा है। सूफी साधना में इसी को जिक्र और फिक्र संज्ञा से अभिहित किया गया है। पादसेवन, वन्दन और अर्चन को भी इन कवियों ने अपने भावों में गूंथा है। उपालम्भ, पश्चात्ताप, लघुता, समता और एकता जैसे तत्व भावभक्ति में यथावत् उपलब्ध होते हैं। इन कवियों के पदों को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे एक दूसरे से किस सीमा तक प्रभावित रहे हैं।

योग साधना आध्यात्मिक रहस्य की उपलब्धि के लिए एक सापेक्ष अंग है। सृष्टि के आदि काल से लेकर आज तक यह समान रूप से व्यवहृत होता आ रहा है। जायसी, कबीर, नानक, मीरा आदि संतों ने, सरहपा, कण्हपा आदि जैसे सहजमार्गी सिद्धों ने, कौलमार्गी और नाथ आचार्यों ने, चमत्कारवादी सहजिया सम्प्रदायी महात्माओं ने योग साधना का भरपूर उपयोग किया है। जैन धर्म ने भी एक लम्बी परम्परा के साथ सूफी और सन्तों के समान मन को केन्द्र में रखकर साधना के क्षेत्र को विस्तृत किया है। उनमें यह विशेषता रही है कि साधारणतः उन्होंने अपने आपको हठ योग से दूर रखा है और साध्य की प्राप्ति में योग का पूरा उपयोग किया है। ब्रह्मत्व या निरंजन की अनुभूति के बाद साधक समरसता के रंग मे रंग जाता है। रहस्य भावना का यह अन्यतम उद्देश्य है।

आध्यात्मिक किंवा रहस्य की प्राप्ति के लिए स्वानुभूति एक अपरिहार्य तत्व है। इसे जैन-जैनेतर साधकों ने समान रूप से स्वीकार किया है। आध्यात्मिक विवाह और होली जैसे तत्वों को भी कवियों ने आत्मसात किया है। रहस्यवाद की अभिव्यक्ति के लिए संकेतात्मक, प्रतीकात्मक, व्यंजनापरक एवं आलंकारिक शैलियों का उपयोग करना पड़ता है। इन शैलियों में अन्योक्ति शैली, समासोक्ति शैली, संधासि वक्रतामूलक शैली, रूपक शैली, प्रतीक शैली विशेष महत्वपूर्ण है।

जैन साधकों ने निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार की भक्तियों का अवलम्बन लिया है। परन्तु उन्होंने इस क्षेत्र में अपनी पहिचान बनाये रखी है। सूफी कवि जैन साधना से बहुत कुछ प्रभावित रहे हैं। कबीर आदि निर्गुणी सन्तों ने भी जैन विचारधारा को आत्मसात किया है। जैनों का निकल-सकल परमात्मा निर्गुण और सगुण का ही रूप है। यह अवश्य है कि मध्यकालीन जैनेतर कवियों के समान हिन्दी जैन कवियों के बीच निर्गुण अथवा सगुण भक्ति शाखा की सीमा-रेखा नहीं खिची। वे दोनों अवस्थाओं के पुजारी रहे हैं क्योंकि वे दोनों अवस्थाएं एक ही आत्मा की मानी गई हैं। उन्हें ही जैन पारिभाषिक शब्दों में सिद्ध और अर्हन्त कहा गया है। इस परिप्रेक्ष्य में जब हम आधुनिककाव्य में अभिव्यक्त रहस्य भावना को देखते हैं तो उसमें और जैन रहस्य भावना में साम्य कम और वैषम्य अधिक दिखाई देता है। इन सभी तथ्यों पर प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

परिवर्त 5
नारी वर्ग चेतना

जैनदर्शन समतावादी, पुरुषार्थवादी, आत्मवादी और मोक्षवादी चिंतन के साथ सामाजिक और दार्शनिक क्षेत्र में उतरा और उसने व्यष्टि और समष्टि की तात्कालिक तथा शाश्वत समस्याओं पर अपने सैद्धान्तिक सूत्र प्रस्तुत किये। यही सूत्र व्यक्ति के विकास के विभिन्न सोपान बनकर अमर बन गये। परन्तु नारी के सन्दर्भ में इन सूत्रों का व्यावहारिक उपयोग न हो सका।

जैनदर्शन को वैदिक काल की पृष्ठभूमि प्राप्त थी। [illegible] [illegible] की जननी है यह शाश्वत सूत्र नारी की स्थिति के साथ प्रारम्भ से ही जुड़ा हुआ है। अथ से लेकर इति तक किसी भी साहित्य में पुत्र की अपेक्षा पुत्री को [illegible] [illegible] नहीं दिया गया बल्कि उसे बंधन-कारक तथा [illegible] माना गया। इस [illegible] के पीछे उसकी प्राकृतिक तथा शारीरिक दुर्बलतायें प्रमुख रही हैं पर उसकी [illegible]-तिक स्थिति को [illegible] करने का अवसर प्रदान नहीं किया जा सका।

वैदिककाल में पुत्र प्राप्ति की तीव्र इच्छा तथा पुत्री के जन्म पर शोक और चिंता व्यक्त की जाती रही है। इसका मूल कारण यह था कि वैदिक [illegible] के पितृ ऋण से मुक्त होने के लिए पुत्र को ही उपयोगी माना और यह कि विवाह होने पर पुत्री का परिवार बदल जाने से वह उन पितरों के जीवन- [illegible] रह जाती। व्यक्ति धर्म से अधिक भयभीत रहता है इसलिए [illegible] [illegible] के [illegible] की स्थापना कर पूर्ण करा लेता है। पुत्री चूँकि अन्यत्र चली जाती है इसलिए उसके माता-पिता की स्वार्थ सिद्धि नहीं हो पाती। [illegible] प्रथा की [illegible] में भी यही मूल कारण रहा है।

दर्शन के क्षेत्र में [illegible] प्रायः नारी की निन्दा ही की गई है। [illegible] [illegible] उसके [illegible] का विश्लेषण भी इसी आधार पर हुआ है। [illegible] [illegible] में

लिखा है कि इसके समान मनुष्य का दूसरा शत्रु नहीं है इसलिए इसे नारी कहते हैं ।[1] इसी तरह पुरुष का वध करने वाली होने से वधू, दोषों की उत्पादिका होने से स्त्री, प्रमाद उत्पन्न करने वाली होने से प्रमदा तथा पुरुषों पर दोषारोपण करने वाली होने से महिला कहा गया है । इन अर्थों के पीछे चिंतकों की यह भूमिका रही है कि नारी के कारण पुरुष वर्ग अनेक दोषों की ओर आकर्षित होता है इसलिए वह हेय है, निंदनीय है । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस पर विचार किया जाये तो यही कहा जा सकता है कि अपराधी अपना अपराध किसी दूसरे पर थोपकर स्वयं मुक्त अथवा निर्दोष होना चाहता है ।

नारी की दुर्दवस्था का एक और कारण रहा है कि उत्तर वैदिक काल में उसके धार्मिक अधिकार पुरोहितों के पास पहुंच गये । फलत: उसकी धार्मिक शिक्षा समाप्त-प्राय हो गई और वह उपनयन संस्कार से वंचित होकर शूद्रवत् व्यवहार पाने लगी । इस तरह वह बुद्ध और महावीर के पूर्व काल में शिक्षा और धर्म के क्षेत्र से हटकर समाज में परतंत्रता का जीवन बिताने के लिए बाध्य हो गई ।

श्रमण संस्कृति में नारी के इस रूप ने करवट बदली और उसने महावीर के समतावादी दर्शन के आलोक में सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में पुन: अपना अस्तित्व प्राप्त किया । नायाधम्मकहाओ से पता चलता है कि संतान-प्राप्ति की कामना करते समय पुत्र अथवा पुत्री को समान रूप से देखा जाता था ।[2] इतना ही नहीं, विवाह करने के लिए वर पक्ष वधू पक्ष को शुल्क भी दिया करता था ।[3] यह उल्लेख पुत्री के महत्व को अधिक स्पष्ट कर देता है ।

जैन संस्कृति लैंगिक और धार्मिक समता की पक्षधर है उसमें चाहे नारी हो या पुरुष, प्राणिमात्र अपने स्वयं के पुरुषार्थ से वीतरागी होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है । परन्तु इस सन्दर्भ में जैन संस्कृति के दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मतभेद है ।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार स्त्री भी मुक्त हो सकती है क्योंकि पुरुष के समान उसमें भी वे सभी गुण विद्यमान हैं जिनकी मोक्ष प्राप्ति में आवश्यकता होती है । पर दिगम्बर परम्परा इसे स्वीकार नहीं करती । वह अपने पक्ष में निम्न-लिखित तर्क प्रस्तुत करती है—

---

1. तारिसओ णत्थि अरी णरस्स अण्णोत्ति उच्चदे नारी ।
2. कहं णं तुमं वा दारयं वा दारियं वा पयाएज्जासि, नाया 1. 2, 40
3. तो भण, देवाणुप्पिया! किं दलामि सुक्कं? नाया. 1. 14. 110

1. मोक्ष के कारणभूत ज्ञान-दर्शन चारित्र की उसमें प्रकर्षता नहीं होती। जिस प्रकार उसमें पाप की प्रकर्षता न होने से वह सप्तम नरक नहीं जाती उसी तरह पुण्य अथवा वीतरागता की उतनी प्रकर्षता उसमें नहीं होती कि वह मोक्ष प्राप्त कर सके। पुरुष में पुण्य और पाप दोनों की प्रकर्षता होती है इसलिए उसे मुक्ति तथा सप्तम् नरक गमन का विधान बताया गया है।

2. स्त्री चूंकि सचेल संयमी है इसलिए उसका आचार गृहस्थ संयमी के समान होता है। संयम का अभाव मोक्ष की प्राप्ति में बाधक होता ही है, इसीलिए साधुओं के द्वारा उसे अवंदनीय कहा गया है। प्रमेयकमल मार्तण्ड में प्राचीन आगम की एक गाथा का उल्लेख है जिसमें कहा गया है कि सौ वर्ष की दीक्षित आर्यिका भी आज के ही दीक्षित साधु के द्वारा भी वंदनीय नहीं है।

> वरिससय दिक्खियाए अज्जाए अज्ज दिक्खियो साहू।
> अभिगमण वंदणणमंसण विणएण सो पुज्जो ॥[1]

3. वस्त्रादि बाह्य परिग्रह तथा अनुरागादि आभ्यंतर परिग्रह भी स्त्रियों में अधिक रहता है। यदि उन्हें मोक्ष अधिकारिणी माना जाय तो गृहस्थों को भी मोक्ष प्राप्त हो सकता है, यह बात माननी होगी जो समुचित नहीं कही जा सकती। 'जीतकल्प' में आई गाथा से भी यही प्रकट होता है।[2] वस्त्र ग्रहण करने में प्राणियों का अपघात तथा संमूर्छन जीवों की उत्पत्ति होती है। इस सन्दर्भ में यह प्रश्न खड़ा किया जा सकता है कि विहार करने में भी यह होता है। यह प्रश्न युक्ति संगत नहीं क्योंकि प्रयत्न पूर्वक संयम पूर्वक चलने पर भी यदि प्राणिघात होता है तो वह हिंसा नहीं, अहिंसा है। बाह्याभ्यांतर परिग्रह का त्याग ही वास्तविक संयम है। यह वस्त्र याचन, सीवन, प्रक्षालन, शोषण, निक्षेप, आदान और हरण आदि कारणों से मनः संक्षोभकारी है अतः उसे संयम का विघातक कारण कैसे न माना जाय ?[3]

यही विचार-श्रृंखला उत्तरकालीन दिगम्बर ग्रन्थों में प्रतिबिम्बित हुई है। सील पाहुड (गाथा 29) में नारी को श्वान्, गर्दभ, गौ आदि पशुओं के समकक्ष रखा गया है। और इन सभी को मुक्ति से कोसों दूर किया गया है। प्रवचनसार की कुछ प्रक्षेपक गाथाओं में तो इसे और स्पष्ट कर दिया गया है कि नारी भले ही सम्यग्दर्शन से शुद्ध हो, शास्त्रों का अध्ययन किया हो, तपश्चरण रूप चारित्र से युक्त हो पर वह कर्मों की संपूर्ण निर्जरा नहीं कर सकती। इन उत्तरकालीन गाथाओं

---

1. प्रमेयकमल मार्तंड, पृ. 330
2. 'सवेरवकुइ लिव सेज्जाहुर रायपिंड किदिकम्म'' । जीतकल्प, [illegible], 1972
3. प्रमेय कमलमार्तण्ड, पृ. 331-32 पर उद्धृत श्लोक

को आचार्य कुन्दकुन्द जैसे महनीय आध्यात्मिक दार्शनिक सन्त के साथ जोड़ देने का तात्पर्य यह है कि यह विचार मूल जैन परम्परा से सम्बद्ध न होकर उत्तरकालीन कुछ आचार्यों की देन है।

जो भी हो, यह परम्परा अब दिगम्बर परम्परा के रूप में स्थिर हो चुकी है। उसके अनुसार कर्मों की सम्पूर्ण निर्जरा करने के लिए नारी को भवान्तर में पुरुष वेद ग्रहण करना अनिवार्य है। अतः वे तद्भव मोक्षगामी न होकर भवान्तर में मोक्षगामी होती हैं। इसका कारण यह बताया है कि नारी चंचल स्वभावी तथा सचैल होती है तथा उसके प्रथम संहनन नहीं होता। दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार स्त्री तीर्थंकर नही हो सकती और सम्यग्दृष्टि जीव स्त्रियों में उत्पन्न नहीं हो सकते। यहां यह उल्लेखनीय है कि बौद्ध संस्कृति भी इस सन्दर्भ में दिगम्बर परम्परा के अधिक समीप है। आनन्द के आग्रह से भगवान बुद्ध ने महिलाओं को संघ में प्रवेश अवश्य दिया पर उन्हें मुक्ति का विधान नहीं किया जा सका।

श्वेताम्बर परम्परा वीतरागता की इस उच्च स्थिति को स्वीकार नहीं करती। उसके अनुसार वीतरागता अन्तरंग का चिह्न है, बहिरंग का नहीं। अतः उसकी परमोक्ष अवस्था प्राप्त करने के लिए कोई लिंग आदि का बन्धन नहीं माना जा सकता। अतः नारी भी मुक्ति प्राप्त कर सकती है। ललितविस्तरा में सिद्ध के पन्द्रह प्रकारों में स्त्रीलिंग सिद्ध, नपुसकलिंग सिद्ध, गिहिलिंगसिद्ध जैसे प्रकार भी दिये गये हैं।

यहां यह उल्लेखनीय है कि यापनीय संघ[1] (जो वि. सं 205 में कल्याण नामकनगर में श्रीकलश नामक श्वेताम्बर साधु द्वारा स्थापित किया गया था) के अनुसार भी स्त्री मुक्ति की अधिकारणी है। यहां इस संघ के विषय में अधिक कहना अभिधेय नहीं। पर इतन कथ्य अवश्य है कि इसकी कुछ मान्यतायें श्वेताम्बर परम्परा पर आधारित थीं और नग्नत्व आदि कुछ मान्यतायें दिगम्बर परम्परा का अनुसरण करता थीं। ललित विस्तरा में इसी की मान्यता का उद्धरण देकर श्वेताम्बर परंपरा को प्रस्तुत किया गया है। तदनुसार नारी को मुक्ति प्राप्त होना असम्भव नहीं कहा जा सकता।

यह परम्परा उत्कृष्ट शुक्ल ध्यान से उत्कृष्ट रौद्र ध्यान की कोई व्याप्ति नहीं मानती। उसके अनुसार जहां मोक्ष प्रापक शुक्ल ध्यान की योग्यता है वहां सप्तम् नरक

1. दर्शनसार

भावक रौद्र ध्यान की योग्यता का कोई नियम नहीं है। अतः स्त्रियां सप्तम् नरक के योग्य न होने पर भी शुक्ल ध्यान के योग्य हो सकती हैं।

'यथोक्तं यापनीय तंत्रे' णो खलु इत्थी अजीवो (प्र. अजीवे) ण यावि अभव्वा, ण यावि दंसणविरोहिणी (प्र."""विराहिणी), णो अमाणुसा, णो अणारि उप्पत्ति, णो असंखेज्जाउया, णो अइकूरमई, णो ण उवसन्तमोहा, णो ण सुद्धाचारा, णो असुद्धबोंदी, णो ववसायवज्जिया, णो अपुव्वकरण विरोहिणी, णो णवगुणट्ठाण रहिया, णो अजोग्गा लद्धीए, णो अकल्लाणभायणं ति कहं न उत्तमधम्मसाहिग त्ति।"[1] अर्थात् जैसे कि यापनीय शास्त्र में कहा गया है कि "स्त्री कोई अजीव तो है नहीं, फिर वह उत्तम धर्म मोक्ष कारक चारित्र धर्म की साधक क्यों नहीं हो सकती? वैसी ही वह अभव्य भी नहीं है, दर्शन विरोधी नहीं है, अमनुष्य नहीं है, अनार्य देशोत्पन्न नहीं है, असंख्य वर्ष की आयु वाली नहीं है, अति क्रूर मतिवाली नहीं है, मोह प्रशांत हो ही न सके ऐसी नहीं, वह शुद्ध आचार से शून्य नहीं है, अशुद्ध शरीर वाली नहीं है, परलोक हितकर प्रवृत्ति से रहित नहीं है, अपूर्वकरण की विरोधी नहीं है, नौ गुण स्थानक (छठवें से चौदहवें तक) से रहित नहीं है, लब्धि के अयोग्य नहीं है, अकल्याण की ही पात्र है ऐसा भी नहीं है फिर उत्तम धर्म की साधक क्यों नहीं हो सकती?"

नन्दिसूत्र, प्रज्ञापना, शास्त्रवार्ता-समुच्चय आदि श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी इस विषय की पर्याप्त मीमांसा की गई है और मल्लि को तीर्थंकर बताकर यह स्पष्ट किया गया है कि नारी भी शारीरिक और आध्यात्मिक विकास की पूर्ण अधिकारिणी है। उनके अनुसार वस्त्र-ग्रहण से वीतराग की कोई हानि नहीं होती अन्यथा पीछी, दवा, भोजन आदि भी इसी श्रेणी में आ जायेगा अतः वस्त्र को नारी की मुक्ति प्राप्ति में बाधक नहीं माना जा सकता।

इसके बावजूद यह आश्चर्य का विषय है कि श्वेताम्बर परम्परा नारी को दृष्टिवाद के अध्ययन की अधिकारिणी नहीं मानती। 'दृष्टिवाद', जैसा हम जानते हैं, तात्कालिक प्रचलित परम्पराओं, दर्शनों और साधनाओं का मीमांसक संग्रह रहा है इसलिए उसका दुरूह और जटिल होना स्वाभाविक है। परम्परा से चूंकि नारी वर्ग शारीरिक और मानसिक दुर्बलताओं का पिण्ड मानी गयी है इसलिए उसे दृष्टिवाद जैसे दुर्बोध आगम ग्रन्थ के अध्ययन करने से दूर रखा गया है। इस सन्दर्भ में दो परम्परायें हैं–प्रथम परम्परा का सूत्रपात जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने किया है जिनके अनुसार दृष्टिवाद के अध्ययन के निषेध के पीछे नारी के तुच्छत्व, अभिमान,

---

1. ललित विस्तरा पृ. 400

इन्द्रिय चांचल्य, मति मांद्य आदि मानसिक दोष हैं।[1] द्वितीय परम्परा को हरिभद्र सूरि ने प्रारम्भ किया जो नारी में अशुद्धि रूप शारीरिक दोष दिखाकर उसका निषेध करते हैं।

इन दोनों परम्पराओं में एक ओर नारी को शारीरिक और मानसिक दोषों से आबद्ध माना गया। और दूसरी ओर उसमें मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता को स्वीकार किया गया है। यहां दोनों विचारों में पारस्परिक विरोध दिखाई देता है। उदाहरणार्थ शुक्ल ध्यान के पहले दो प्रकार–(1) पृथकत्व वितर्क सविचार, (2) एकत्ववितर्क अविचार प्राप्त किये बिना केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता। 'पूर्व' ज्ञान के बिना शुक्ल ध्यान के प्रथम दो प्रकार प्राप्त नहीं होते और 'पूर्व' दृष्टिवाद का एक भाग है—शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः। (तत्वार्थ सूत्र, 9, 39) अर्थात् दृष्टिवाद के अध्ययन बिना केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती और केवलज्ञान बिना मुक्ति प्राप्ति नहीं होती। ऐसी स्थिति में नारी को मुक्ति प्राप्ति का अधिकार दिया जाना पारस्परिक विचार-विरोध व्यक्त करता है। इसका समाधान इस प्रकार किया जाता है कि शास्त्र नारी में दृष्टिवाद के अर्थज्ञान की तो योग्यता मानता है पर उसे शाब्दिक अध्ययन का निषेध करता है। पर यह समाधान उचित नहीं दिखाई देता क्योंकि शाब्दिक अध्ययन के बिना अर्थज्ञान कैसे होगा ?

जैन दर्शन के अनुसार नारी की योग्यता के सन्दर्भ में दिगम्बर और श्वेताम्बर पम्पराये कुल मिलाकर बहुत दूर नहीं है। उन दोनों मे नारी को पुरुष के समकक्ष बैठा नहीं देखते। इतना ही नहीं, प्राकृतिक दुर्बलताओं के कारण घनघोर निन्दा कर उसे ही दोषी ठहराया गया है। नारी की दुर्दशा का मूल कारण कदाचित् यही रहा है कि उसे सांपत्तिक और धार्मिक अधिकार नहीं दिये गये। आचार्य जिनसेन ने इस तथ्य को महसूस किया और उसे पुत्रों की भांति सम्पत्ति में समान अधिकार प्रदान किये–पुत्र्यश्च संविभागार्हा: सम पुत्रैः समांशकैः (38.154)। इसी तरह उसे पूजा प्रक्षाल का भी अधिकार मिला। अंजना सुन्दरी, मैना सुन्दरी, मदनवेगा आदि ऐतिहासिक किंवा पौराणिक नारियों ने जिन पूजा-प्रक्षाल किया ही है। यह सर्वविदित है। होना भी चाहिए। जब उसे कर्मों की निर्जरा करने का अधिकार है, क्षमता है तब उसे पूजा-प्रक्षाल से रोकना एक अमानवीय और असामाजिक कृत्य ही समझा जाना चाहिए। ऐसी परम्पराओं के विरोध में नारी को एक आवाज से आगे बढ़कर धार्मिक रूढ़ियों को समाप्त करना-करवाना चाहिए।

1. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा 552.

परम्परा से नारी एक मूक दर्शिका रही है। अधिकार देने वाला और अधिकार छीनने वाला पुरुष वर्ग ही रहा है। उसी की कृपा पर उसका समूचा जीवन यापन था। समतावादी जैन धर्म और समाज में यह विषमतामूलक दृष्टिकोण निश्चित ही वैदिक संस्कृति का प्रभाव कहा जायेगा और उससे भी कहीं अधिक पुरुष वर्ग की शासनवृत्ति जिम्मेदार है। श्रद्धा भक्ति के आवेश में नारी को और भी कुचला और उसे कुचलने के लिए धार्मिक नियमों के कठघरे में भी उसे बन्द कर दिया।

आज वस्तुतः इन परम्पराओं के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता है और आवश्यकता है यथार्थता की देहली पर खड़े होकर नारी की प्रतिभा और शक्ति को समझने की तथा उसे संयोजित और सुव्यवस्थित करने की। वर्तमान आंकड़ों को देखने पर ये प्राचीन परम्परायें ध्वस्त-सी प्रतीत होने लगती हैं। आज की नारी अपने आप को अधिक प्रतिभा सम्पन्न सिद्ध कर रही है। यदि उसे पुरुष वर्ग समुचित साधन उपलब्ध कराये और शास्त्रीय कल्पनाओं से दूर हटकर उसके वैचारिक विकास में हाथ बढ़ाये तो समाज के नारी वर्ग का समूचा उपयोग हो सकता है।

भगवान महावीर का समतावादी और पुरुषार्थवादी दृष्टिकोण नारी शक्ति को जाग्रत करने के लिए पर्याप्त है। वह समूचे परिवार को एक आदर्शमयी वातावरण देकर उसमे नये जीवन का संचार कर सकती है। अहिंसा, सत्य, स्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की अमृतमयी विचारधारा उसको तथा उसके परिवार को सुखी और समृद्ध करने के लिए एक सशक्त साधन है। अनेकान्तवाद और स्याद्वाद उसे पारिवारिक और सामाजिक विद्वेष से मुक्त रख सकते हैं। जैन दर्शन के ये सिद्धान्त नारी जीवन को एक सुखद और सुरभिमय वातावरण देकर उच्चतम प्रगतिपथ पर पहुंचा सकते है।

× × ×

विगत पृष्ठों मे हमने जैन दर्शन की परिधि मे नारी की स्थिति को परखा है। वस्तुत: नारी मुक्ति प्राप्त करने की अधिकारिणी है या नहीं, इस समस्या का सम्बन्ध हमारे वर्तमान जीवन से बहुत अधिक नहीं है। इस शास्त्रीय चर्चा का कोई विशेष उपयोग भी नहीं। वर्तमान संदर्भ में तो प्रश्न यह है कि नारी जीवन की संरचना में अपना किस प्रकार का महत्वपूर्ण योगदान दे सकती है। म. बुद्ध ने कहा था, तीर किसने मारा, क्यों मारा, कैसे मारा आदि प्रश्न सामयिक नहीं होते। सामयिक यह होता है कि पहले उसका तीर निकाला जाय, मरहम पट्टी की जाय और फिर भले ही समापन्न प्रश्नों पर विचार किया जाये। यदि प्रश्नों में उलझ गये तो उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है। इसी तरह नारी को कुचलने-दबाने आदि की घटनायें दैनिक जीवन की घटना-सी बन गयी हैं। इन दुर्घटनाओं से मुक्त होकर वह आत्म-विकास कैसे कर सकती है, यह प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण है। संसार की आधी आबादी के

जाने से अधिक प्रतिभा को उपेक्षित और वंचित रखा जाना अब न तो सम्भव है और न उचित ही है।

जैन दर्शन की सार्वभौमिकता नारी के विकास में बाधक नहीं हो सकती, ऐसी मेरी मान्यता है। जैन इतिहास के संदर्भ में भी यदि बात की जावे तो स्पष्ट हो जावेगा कि जैनाचार्यों ने नारी की धनघोर निन्दा और उसे धर्माचरण में कठोर बाधा भले ही माना हो पर समाज में उसकी स्थिति उज्ज्वल से उज्ज्वलतर होती गई है। सभी आत्माओं को अनन्त चतुष्टय युक्त मानकर नारी को सर्वप्रथम जैन दर्शन में ही यह कहकर उद्बुद्ध किया है कि तुम्हारी आत्मा में भी अनन्त शक्ति दर्शन–ज्ञान चारित्र की है जो तुम्हारे जीवन को स्वावलम्बी और सुखी बना सकती है। आवश्यकता इतनी ही है कि हमें अब इस शक्ति का आभास हो जाना चाहिए। जब तक नारी स्वयं इसका आभास न कर ले, उसका विकास सम्भव नहीं। उसे अब किसी के मुंह की ओर देखने की आवश्यकता नही। उसे स्वयं ही इस बात का निर्णय करना है कि वह किन साधनो से आत्मविकास कर सकती है और किन साधनों से अपनी प्रतिभा और शक्ति को समाज के विकास में लगा सकती है।

प्रथम बात तो यह है कि उसे यह मानकर चलना होगा कि वह परिवार का एक महत्वपूर्ण घटक है। उसे सामंजस्य और सहिष्णुतापूर्वक परिवार के सभी सदस्यों को लेकर पारिवारिक समस्याओं का समाधान खोजना चाहिए। दूसरी बात यह है कि परिवार के विकास में उसे स्वयं को भी उत्तरदायी समझना होगा।

ये दोनों तत्त्व एक दूसरे पर निर्भर करते हैं। परिवार का महत्वपूर्ण घटक ही परिवार के विकास का उत्तरदायी रहता है। परिवार व्यक्ति का सीमित समूह है और परिवारों का समूह एक समाज है। व्यष्टि से समष्टि और समष्टि से व्यष्टि जुड़ा हुआ है। अर्धनारीश्वर की कल्पना नारी के महत्व की ओर स्पष्ट रूप से इंगित करती है।

जैन दर्शन गृहस्थ धर्म में न्यायोपार्जन को एक आवश्यक तत्त्व मानता है। उसे श्रावक के लक्षण में एक माना गया है। शोषण की वृत्ति इस तत्त्व से दूर हो जाती है और समता भाव की जागृति लाने में सहायक बनती है। आज के जीवन का केंसर रूप भ्रष्टाचार भी इससे समाप्त हो जाता है। वे अपने जीवन को कम से कम परिग्रही बनायें जिससे उनके भावों में विशुद्धि आ सके। मितव्ययिता का सिद्धान्त भी इसी सिद्धांत से जुड़ा हुआ है। परिवार को सुव्यवस्थित रखने के लिए इस सिद्धान्त से विमुख हुआ भी नहीं जा सकता। दुर्व्यसनों से मुक्त रहकर धर्म साधना करना जैन गृहस्थाचार का पुनीत अंग है। हम जानते हैं कि द्यूत क्रीड़ा और मद्य पान से कितने परिवार बरबादी की कगार पर पहुंच जाते हैं। ऐसे परिवारों का जितनी सक्षमतापूर्वक नारी विनाश से बचा सकती है, अन्य नहीं।

महिलाएँ भ० महावीर के अपरिग्रहवाद को यदि अपने जीवन में उतार लें तो भ्रष्टाचार दूर हो सकता है क्योंकि इस भ्रष्टाचार के पीछे नारी की विलासिता-वादी प्रकृति भी एक कारण है। नारी इस दुःखद कारण को स्वयं दूर कर सकती है यदि वह अपनी मनोवृत्ति में परिवर्तन कर ले। परिवार को सुखी बनाने में इस प्रकार का मानसिक परिवर्तन अत्यावश्यक है। भ० महावीर के अपरिग्रहवाद का यही स्वर है।

× × ×

इतिहास के पृष्ठ उलटने पर यह बात किसी से छिपी नहीं रहती कि प्राचीन काल में नारी की क्या स्थिति थी। वैदिक काल की नारी मूलतः भोग्या थी पर उत्तरकाल में उसे धर्मचारिणी बना दिया। इसके बावजूद उसका भोग्या रूप समाप्त नहीं हो पाया भोग्या रूप से सहचारिणी तक आते-आते नारी ने शताब्दियां बिता दी हैं। भ० महावीर और महात्मा बुद्ध ने उसकी स्थिति पर गम्भीरता पूर्वक सोचा और उसे यथोचित स्थान देने का बीड़ा उठाया। चूंकि समाज के इस वर्ग में एक नई क्रान्ति थी इसलिए इन महामहिम क्रान्तिकारी व्यक्तित्वों को भी निश्चित ही अनेक प्रकार के विरोधो का सामना करना पड़ा होगा। परन्तु उन विरोधो को सहते हुए भी महावीर ने नारी को लगभग वही अधिकार देने की पेशकश की जो साधा-रणतः पुरुषवर्ग को था। नारी की ओर से बुद्ध के समक्ष आनन्द वकील बनकर खड़े हुए पर महावीर के समक्ष नारी को अपना कोई वकील करना पड़ा हो, ऐसा पता नहीं चलता लगता है, महावीर बुद्ध की अपेक्षा नारी के विषय में कहीं अधिक उदार रहे। चंदनबाला के जीवन की धार्मिक घटनाओं को क्या हम उसमय की नारी विकट परिस्थिति का प्रतीक नहीं कह सकते ? चन्दनबाला के हाथ पैर बांधकर जेल में डाल दिया जाना उस समय की स्थिति को इंगित करते हैं। महावीर द्वारा चन्दना का उद्धार किया जाना और उसे संघ में दीक्षित हो जाना नारी स्वातंत्र्य का प्रतीक है। उसे हम प्रतीक माने या न माने परन्तु यह निश्चित है कि महावीर जैसे क्रान्तिकारी व्यक्तित्व ने नारी की दुरवस्था पर आंसू जरूर बहाये होंगे। वे शायद मगरमच्छ के आंसू नहीं रहे होंगे बल्कि एक कर्मठ क्रान्तिकारी मानवतावादी दार्शनिक का संवेदनशील प्रगतिवादी कदम रहा होगा जिसने नारी वर्ग के स्पन्दन को आंका, परखा और उसे सहलाया।

नारी को दिये गये इस स्वातन्त्र्य ने उसमें आत्मशक्ति जाग्रत की। आत्म-शक्ति का जागरण उसके जीवन की महान् सफलता का साधन बना। उसकी उस आत्मशक्ति ने उसे मोक्ष तक पहुंचा दिया। मोक्ष ही नहीं बल्कि तीर्थंकर बनाकर बैठा दिया।

परन्तु नारी की स्थिति का यह परिवर्तन स्थायी नहीं रह सका। थोड़े समय बाद ही नारी की चेतना को फिर अवरोध किया गया। उसे वर्जन उठाने का जो

अवसर मिला था वह तहस-नहस कर दिया गया । उसकी शारीरिक दुर्बलता और मानसिक भावुकता का लाभ उठाकर पुरुषवर्ग ने उसे पुनः जकड़ लिया । परावलम्बन के कठोर पिंजड़े में फंसकर उसकी प्रतिभा मोथरा गई । एक 'नवीन कानून' का रंग देकर उसे भी खोलकर भला-बुरा कहा गया । ऋषि-महर्षियों ने अपने दुर्गुणों का सारा बोझ अबला नारी के निर्बल कंधों पर रख दिया और दूर खड़े होकर हर तरह की आलोचना भरे गीत गाना प्रारम्भ कर दिये । उत्तरकालीन कवियों ने तो नारी की अच्छी खबर ली । उसके अंग-प्रत्यगों का जी खोलकर रोमांचक वर्णन किया । इस प्रकार की स्थिति लगभग 19 वी शती तक चलती रही । कुछ गिनी-चुनी महिलाएं अवश्य हुई जिन्होंने ऐसी विकट परिस्थिति में भी अपनी वीरता व साहस का परिचय दिया ।

समाज में नारी की स्थिति का गम्भीर अध्ययन करने के बाद विनोबा जैसे अध्येता और चिंतक को यह कहना पड़ा कि जब तक नारी वर्ग में से ही कोई शंकराचार्य जैसा व्यक्तित्व पैदा नहीं होता तब तक उसका उद्धार नही हो सकता । इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि हमे अपने स्वातन्त्र्य के लिए स्वयं ही प्रयत्नशील होना होगा । वह किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा देने से नहीं मिल सकता । कदाचित् मिला तो हम उसका मूल्याकन नही कर पायेगे । जो वस्तु स्वयं के श्रम से प्राप्त की जाती है उसके प्रति हमारे मन मे अधिक श्रद्धा और लगाव रहता है और जो वस्तु बिना आयास के ही मिल जाती है उसके महत्व को हम नहीं समझ पाते । यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है । हमारा सारा धर्म और संहिताएं पुरुष द्वारा निर्मित हुई हैं । उन पर पुरुषों का ही आधिपत्य रहा है इसलिए अभी तक नारी समाज को परावलम्बन का मुँह देखना पड़ा । परावलम्बन में जागृति और चेतना कहाँ ? जब तक व्यक्ति के मन में अपने स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए सघर्ष की बात गले न उतर जाये तब तक वह प्रगति के रास्ते पर चल ही नही सकता । प्रगति के इसी रास्ते को अभी तक अवरुद्ध बनाये रखा है । इस अवरोध को नारी वर्ग स्वयं जब तक अपनी पूरी शक्ति से तोड़ेगा नही, प्रगतिपथ प्रशस्त नही हो सकेगा । कभी वस्तु को तोड़ने से वह और टूट जाती है और कभी वस्तु के तोड़ देने पर उसे अपने ढंग से जोड़ भी दिया जाता है । यह जोड़ कभी-कभी मूल वस्तु से कही अधिक मजबूत होता है । हमें पुरानी निरर्थक परम्पराओं को तोड़कर इसी प्रकार मजबूत जोड़ लगाना है । ऐसी परम्पराएं जिन्होंने नारी समाज को अस्त-व्यस्त कर दिया, जर्जर कर दिया, शक्तिहीन कर दिया, दहेज, बाल-विवाह, विधवा विवाह, बहुपत्नीप्रथा, परदा प्रथा आदि समस्याएं प्रमुख हैं ।

इन सभी विकराल समस्याओं को पारकर हमें अपनी और समाज की प्रगति करनी है । इसके लिए जिस आत्म शक्ति की आवश्यकता है उसे जाग्रत करने का

[illegible] महावीर के [illegible] को [illegible] सकता है, जिसने [illegible] की [illegible] के [illegible] एक [illegible] प्लेटफार्म पर बैठा दिया, जो प्लेटफार्म अभी तक विषम बना हुआ था, [illegible] की उस विषमता को मटियामेट करने वाला वह व्यक्तित्व कितना प्रखर रहा होगा, यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। उसी प्रकार 'अहिंसा' के विचारों ने सम्पूर्ण नारी वर्ग को उसकी हीन भावना से मुक्त होने का मार्ग प्रशस्त कर दिया और समानता की साकार दिशा को प्रस्थापित किया।

× × ×

महावीर का यह प्रगतिवादी सूत्र अधिक समय तक जिन्दा नहीं रह सका। शनैः-शनैः वह काल कवलित होता गया। नारी का भी सस्कार पूरी तरह संस्कारित नहीं हुआ था। इसलिए वह भी जैसे अपना अस्तित्व ही खो बैठी है।

इन्हीं सब स्थितियों को देखकर सन् 1975 में अन्तरराष्ट्रीय महिला वर्ष मनाया गया ताकि नारी वर्ग अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को पुनः प्राप्त कर सके। इसके बावजूद यदि हम जागृत नही, हो सके तो हो सकता है, हमें फिर पुराने रास्तों पर लौटना पड़े। पर अब यह लौटना सरल नही होगा। नारी वर्ग में महावीर की समानता का सूत्र घर कर रहा है। अब उसे पुनः उसी कारा मे रखना सरल नहीं होगा।

× × ×

पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा, गजरथ महोत्सव आदि जैसे व्ययसाध्य आयोजन जैन धर्म और संस्कृति के प्रचार-प्रसार के प्रमुख माध्यमों में अग्रगण्य माने जाते हैं। इन माध्यमो से धार्मिक और सामाजिक नेताओं ने जन-जन के बीच जैन प्रभावना में अभिवृद्धि की है और उसके वास्तविक तत्व को प्रस्तुत करने का सफल प्रयत्न किया है। जन मानस ने ऐसे उत्सवों को सराहा भी है। नारी वर्ग के लिए भी ये उपयोगी सिद्ध हुए हैं। भले ही इनमें समाज का पैसा अनपेक्षित रूप से पानी की धार बहता हो।

× × ×

हमारे समाज का अधिकांश नारी वर्ग शैक्षणिक क्षेत्र में अभी भी बहुत पीछे है। उसके साथ प्राचीन अन्धविश्वास और दकियानूसी परम्पराएं सड़ी रबड़ के समान चिपकी हुई हैं। इन परम्पराओं ने समाज के अभ्युत्थान में एक बहुत बड़ी बाधा उत्पन्न की है। फलतः उसका अध्ययन, स्वाध्याय तथा ग्रहण शक्ति का विकास अपेक्षाकृत अधिक नहीं हो सका।

[illegible] नारी वर्ग समाज का एक प्रबल स्तम्भ है। यदि [illegible] से [illegible] समाज के [illegible] में बहु आमूल परिवर्तन आ सकता है। धर्म के वास्तविक

स्वरूप को यदि सही ढंग से उस तक पहुंचाया जावे तो उसके दृष्टिकोण में अन्तर लाना कठिन नहीं है। वैसे पहले की अपेक्षा आज कुछ परिवर्तन आया भी है। फिर भी उसे सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता।

आज सारा विश्व नये आयाम लिये प्रगति कर रहा है पर हम उससे अन-भिज्ञ से बने हुए हैं। हम अपने पारिवारिक घटकों में न समन्वय स्थापित कर पा रहे हैं और न उन्हें एक निश्चित सुदृढ़ प्रगति का साधन दे पा रहे हैं। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में हमें अपनी सारी समस्याओं की पृष्ठभूमि में उतरना होगा और निष्पक्ष होकर उन पर विचार करना होगा। अन्यथा हम जहां हैं वही रहेंगे। वहां से अधिक आगे बढ़ नहीं सकेंगे।

नारी वर्ग चेतना का प्रतीक है। उसमे किसी भी प्रकार की क्षमता का अभाव नही है। बस, आवश्यकता है एक नये उत्साह और प्रेरणा स्रोत की जो उसे सहानुभूति और सहिष्णुता पूर्वक अविरल स्नेहिल सौहार्द दे सके तथा अपनी सम-स्याओ के समाधान की ओर अग्रसर हो सके। इसका सबसे अच्छा उपाय है कि हम अपनी बेटियो, बहुओ और बहनो को अधिक से अधिक सुशिक्षित करें और उन्हें सुसस्कृत वातावरण के परिवेश में जीवन यापन करने दें। दहेज न दे पाने से उनका जीवन दूभर हो रहा है। पुत्रियों के प्रति होने वाले व्यवहार से उनके मन में हीनभावना और विद्रोह भावना दोनो एक साथ पनपती रहती है। इसलिए वे न तो अपनी शक्ति का उपयोग स्वय के विकास मे लगा पाती हैं और न दूसरों का ही विकास कर पाती हैं। बल्कि परेशान होकर आत्म हत्या की ओर उन्मुख होने के लिए विवश हो जाती हैं। कतिपय धन प्रेमी दानव परिवार तो उनका घात करने में भी संकोच नहीं करते।

दहेज प्रथा निषेध अधिनियम, 1961 नारी को इस नारकीय जीवन से मुक्त करने के लिए अपेक्षित वातावरण तैयार नही कर सका। सरकार दहेज का दीमक खतम करने के लिए कठोर कानून बनाने पर सक्रियता से विचार अवश्य कर रही है पर वह कहां तक सफल हो सकेगी, कहना कठिन है। क्रूर कानून को तोड़ने के वैधानिक रास्ते निकाल लिए जाते हैं। अतः अब इसके विरोध में नारी द्वारा ही आन्दोलन का सूत्रपात किया जाना चाहिए।

हम यह मानते हैं कि नारी की कुछ सामाजिक समस्याएं ऐसी हैं जिनका समाधान पुरुष वर्ग के स्नेहिल सहयोग बिना सम्भव नहीं है। उसका सहयोग ले पाना कठिन भी नहीं है। अपितु उसके दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने की क्षमता एवं

साहस का प्रदर्शन हमें निःसंकोच करना होगा। सामाजिक वैभव को जाग्रत करने का संकल्प लेकर दहेज का पूर्णतः बहिष्कार करना नारी के ही हाथ में अधिक है। वह आत्मशक्ति और प्रतिभा तथा साहस के बल अपने जीवन की हर समस्या को सुलझाने में सक्षम है। जैन दर्शन उसकी इस प्रखर शक्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति को स्वीकार करता भी है। बस, समाज में व्याप्त बाह्य बन्धनों को अंतरंग से तोड़ने का बीड़ा उठा लिया जाये तो समस्या सुलझाव की ओर बढ़ सकती है। हमारी निर्भीक प्रवृत्ति तथा यथार्थोन्मुख आदर्शवादी वृत्ति की ओर हमारा युवा वर्ग भी यदि निश्छलता पूर्वक आकर्षित होगा तो समस्याओं का समाधान हम सब एक जुट होकर खोज निकालेंगे।

× × ×

नारी वर्ग में नयी चेतना लाने के लिए पंचकल्याणक प्रतिष्ठा जैसे महोत्सव अमृत स्वरूप हैं। जैन धर्म नारी को समान अधिकार दिये हुए है चाहे वह आध्यात्मिक क्षेत्र हो या राजनीतिक, सामाजिक हो या धार्मिक। सभी क्षेत्र नारी के चरम विकास के लिए खुले हुए हैं। नारी के स्नेहिल सहयोग के बिना ये क्षेत्र मरुस्थल बन जाते है, प्रेम प्रदीप बुझ जाता है और संघर्ष तथा द्वेष की आग भभक उठती है।

पिछले कुछ वर्षों से इन उत्सवों के संदर्भ में अनेक प्रश्नचिन्ह खड़े हो रहे हैं और उनके आयोजनों को असामयिक बताया जा रहा है। वैसे बात किसी सीमा तक सही है भी। समाज का एक ऐसा भी वर्ग है जो आर्थिक और शैक्षणिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ है। उसके अभ्युदय की ओर ध्यान दिये बिना यदि हम अपना वैभव प्रदर्शन और द्रव्य का अपव्यय करते हैं तो ऐसे आयोजनों पर प्रश्नचिन्ह खड़े होंगे ही। आश्चर्य तो यह है कि विरोध जितना अधिक हुआ, ऐसे आयोजनों की संख्या उतनी ही बढ़ती गई। इसलिए मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इन आयोजनों का पुनर्मूल्यांकन होना आवश्यक है।

अधिकांश आयोजनों की पृष्ठभूमि में सूखी यशोलिप्सा काम करती है। व्यक्ति की यशोलिप्सा पूरी करने के व्यावहारिक और उपयोगी मार्ग और भी खोजे जा सकते हैं। ये मार्ग ऐसे हैं जिनके माध्यम से सामुदायिक चेतना जाग्रत हो सके। बाह्य प्रदर्शन से बचकर आय का बहुत भाग सामाजिक विकास में लगाया जाना चाहिए। पिछड़े परिवारों को उद्योग और व्यापार के लिए आर्थिक सहायता दी जाये तथा उनके बच्चों को शिक्षा के क्षेत्र में बढ़ाने के लिए हर सम्भव आर्थिक सहायता पहुंचायी जाये।

× × ×

आज का संसार इतना अधिक संकीर्ण होता जा रहा है कि एक वर्ग की समस्याएं एक वर्ग की बनकर नहीं रह पाती बल्कि वे दूसरे वर्ग को भी प्रभावित

कार देती हैं। सारी धर्म की जितनी समस्याएं हैं वे एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। इसलिए परस्पर प्रभावित भी हैं। अतः समस्याओं के मूल रूप को समझा जाना आवश्यक है।

आज का समाज विज्ञान की ओर दौड़ लगा रहा है और विज्ञान के अर्थ में इतना भूलता चला जा रहा है कि उसे यह भी पता नहीं रह जाता कि नैतिकता किस चिड़िया का नाम है? आध्यात्मिकता का उसके साथ क्या सम्बन्ध है? मानवता क्या है? समाजवाद की सही दिशा क्या है?

इतिहास में ऐसे अनगिनत उदाहरण मिलते हैं जहां धर्म के कारण संघर्ष हुए हैं और राष्ट्र के राष्ट्र तहस-नहस हो गये हैं। उसके वीभत्स रूप को देखकर ही शायद चिन्तकों ने धर्म को अफीम कह दिया। परन्तु प्रश्न यह है कि धर्म क्या वस्तुतः अफीम है। अफीम रहा होगा किन्हीं परिस्थितियों में। परन्तु क्या उन परिस्थितियों को सार्वजनी न माना जाये? क्या यह कहा जा सकता है कि वे सारी परिस्थितियां आज भी वैसी की वैसी ही हैं? इसे हम निश्चित ही स्वीकार नहीं कर सकेंगे। उस समय की परिस्थितियां अलग थीं और आज की परिस्थितियां अलग हैं। धर्म परिस्थितिजन्य होता है।

जैन दर्शन में "वत्थु सहावो धम्मो" कहकर धर्म की परिभाषा की है। इस परिभाषा से यह अभिव्यक्त होता है कि वस्तु मूलतः अप्रभावित रहती है। वह स्वयं में परिपूर्ण है। तत्वतः उसमें तीन गुण रहते हैं—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि वस्तु प्रभावित और परिवर्तित भी होती रहती है पर उसका स्वभाव नष्ट नहीं होता। धर्म का एक अन्य स्वरूप है—कर्तव्य। व्यक्ति, समय, देश काल आदि की दृष्टि से कर्तव्य पृथक्-पृथक् हो जाते हैं।

धर्म की और भी जितनी व्याख्यायें हुई हैं वे सभी इन दोनों व्याख्याओं के आस-पास मंडराती रहती हैं। प्रथम व्याख्या में हम संसार को क्षणिक मानकर चलते हैं। इसलिए उसमें अनासक्ति का भाव निहित रहता है। दूसरा स्वरूप कर्तव्य का बोध कराता है। प्रथम उपदेशात्मक है और द्वितीय व्यावहारिक। इन दोनों स्वरूपों को समन्वित रूप में देखना श्रेयस्कर है

आनन्द मिश्रित कर्तव्य बोध हमारे समाज के हर वर्ग से विरला बना जा रहा है। आज हम स्वार्थ की ओर अधिक ध्यान देते हैं, परमार्थ की ओर कम। यद्यपि स्वार्थ और परमार्थ का संघर्ष सदैव होता रहा है पर आज तो उसका वीभत्स

रूप हमारे सामने आ रहा है वह पूर्व युगों से कहीं अधिक भयंकर है। उसके इस भयंकर रूप को दूर करना हमारा कर्तव्य है।

घर के वातावरण को मधुर और उत्तम बनाने में महिलाओं का योगदान अधिक हुआ करता है। बच्चों के साथ पुरुषवर्ग की अपेक्षा वे अधिक समय घुलमिल-कर रहा करती हैं। इसलिए संस्कारों की भूमिका जितनी सुन्दर नारी बना सकती है उतनी पुरुष नहीं। आज के बालक कल के समृद्ध नागरिक हैं। इसलिए उन्हें सही नागरिक बनाने का समूचा उत्तरदायित्व नारी वर्ग का है।

आज के युवा वर्ग में कर्तव्य बोध की भावना कम होती चली आ रही है जो एक चिन्ता का विषय है। इसका भी उत्तरदायित्व हमारा ही है। हम उसे आदर्शनिष्ठ वातावरण नहीं दे सके जिसमें वह सुसंस्कारित हो सके। वातावरण वस्तुतः दिया नहीं जाता, बन जाता है। वहां कृत्रिमता या बनावटीपन नहीं होता, स्वाभाविकता होती है। जीवन कृत्रिमता से ओतप्रोत रहेगा तो सारा वातावरण संदिग्ध, अविश्वस्त और छल कपटमय बना रहेगा।

हम स्वयं अभी तक चेते नहीं और न चेतना चाहते हैं। हम स्वयं न जीते हैं और न जीना चाहते है। जीते तो सभी हैं। छोटे-छोटे प्राणी भी अपना जीवन यापन कर लेते हैं। परन्तु जीने के ढंग में अन्तर है। हमने जीने के ढंग को या तो समझ नहीं पाया या कदाचित समझ पाया हो तो उस पर अमल नहीं कर पाया। हम बहुत सो चुके हैं, युगों-युगों से सोते चले आ रहे हैं। ऐसा लगता है, कुम्भकरण की निद्रा का असर अभी भी है। दुनियां इतनी आगे बढ़ रही है पर हम आज भी अपनी अन्ध परम्पराओं में गुथे हुए हैं। परम्पराओं के निर्माण में परिस्थितियां कारण बनती हैं। परिस्थितियां बदल जाती है पर परम्परायें बदलती नहीं बल्कि विकृत होती जाती हैं यदि उनके साथ विवेक न रहे।

इन परम्पराओं में विधवा विवाह न करने की परम्परा पर विशेष मन्थन किया जाना आवश्यक है। वह महिला जो संसार का कुछ भी नहीं देख सकी और जिसे शादी के थोड़े समय बाद ही जीवन साथी के वियोग को असह्य कुठाराघात सहना पड़ा, अपना सारा जीवन निरापद रूप से कैसे व्यतीत कर सकती है? कुंठाओं से बोझिल उसका सारा जीवन दुस्सह हो जाता है। परिवार के सारे सदस्य उसे बोझ की निगाहों से देखते हैं। वह भी दीन-हीन बनकर अपना समय व्यतीत करती है। संदेह की विकराल आंखें उसके चारों ओर घूमती रहती हैं। फलतः असह्य स्थिति हो जाने पर वह आत्महत्या के लिए भी विवश हो जाती है। इस परिस्थिति मे

प्रस्तुत प्रवस्था पर पुनर्विचार आवश्यक है। यदि वह विवाहित हो जाती है तो इन सारी विपदाओं से वह मुक्त हो जाती है। फिर यह प्राकृतिक विपदाजन्य कष्ट नारी को ही क्यों, नर को क्यों नहीं ? मात्र इसीलिए की नारी प्रबला है, परतन्त्रता में उसका सारा जीवन व्यतीत होता है ? पर यह सामाजिकता की दृष्टि से भी ठीक नहीं है। यदि परिस्थितियाँ अनुकूल हों और वह महिला सहमत हो तो उसका पुन-र्विवाह समाज को मान्य होना चाहिए। हां, यदि ऐसी कोई महिला धार्मिक किंवा प्रध्यात्मिकता के क्षेत्र में अपना कदम आगे बढ़ाना चाहे तो फिर पुनर्विवाह का प्रश्न ही नहीं उठता। जो भी हो, इस विकट समस्या पर सहानुभूति पूर्वक विचार किया जाना चाहिए और ऐसी महिलाओं को जीवनदान दिया जाना चाहिए जो पथ से विचलित होने के कंगार पर खड़ी हुई हों।

× × ×

आज शिक्षा के क्षेत्र में नारी वर्ग अहर्निश आगे बढ़ता चला जा रहा है। उसके हर क्षेत्र में उसने अपनी साख बना ली है। प्राय: हर परीक्षा में प्रथम आने वालों में महिलाओं की संख्या अधिक रहती है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि नारी में प्रतिभा की कमी नहीं है। कमी है उसे समुचित क्षेत्र तथा सुविधाएं मिलने की। आज भी बहुत परिवार ऐसे हैं जो अपनी कन्याओं को शिक्षित नहीं कर पाते या शिक्षित करना नहीं चाहते। आर्थिक समस्या आड़े आती है या मानसिक संकीर्णता का जोर अधिक रहता है। पारिवारिक संघर्ष का भी वह एक कारण बन जाता है। अत: समाज के अभ्युदय की दृष्टि से महिला वर्ग को सुशिक्षित करना आवश्यक है।

वर्तमान में एक और सबसे बड़ी समस्या है धर्म को व्यावहारिक बनाने की अथवा व्यावहारिक क्षेत्र में धर्म को समाहित करने। धर्म के तीन पक्ष होते हैं– आध्यात्मिक, दार्शनिक और व्यावहारिक। आध्यात्मिक धर्म आत्मिक अनुभव प्रधान होता है। दर्शन प्रधान धर्म चिन्तन के क्षेत्र में आता है और व्यावहारिक धर्म आच-रण के क्षेत्र में माना जा सकता है। यह आचरण ही धर्म बन जाता है। प्रश्न यह है कि यह धर्म कैसा है ? जैन धर्म मूलत: भाव के साथ जुड़ा आचरण प्रधान धर्म है। उसका आधार व्यावहारिक है। अव्यावहारिक नहीं। उसे जीवन में सरलता पूर्वक उतारा जा सकता है। मानवता के कोने-कोने को झांककर जैन धर्म ने अपने मूला-धार को निर्मित किया है। परन्तु आज हम उसके मूल रूप को भूलकर मात्र बाह्य क्रियाओं पर ध्यान देने लगे हैं। यह वैसे ही होगा जैसे हम धान में से चावल निकाल ले पर उड़ती हुई धान की फुकली को ही पकड़ने दौड़ते रहें। ये बाह्य क्रियाकाण्ड उस धान की फुकली के समान हैं जो निःसत्व है। रात्रि भोजन व अभक्ष्य भोजन छोड़ना तो ठीक है ही, पर साथ ही अहिंसा, सत्य आदि पंचाणुव्रतों का परिपालन भी होना चाहिए। जब तक हम रागादि विकारों को छोड़ने का प्रयत्न नहीं करेंगे

तब तक परिवारों में सरलता आ ही नहीं सकती। जैन धर्म का यही मूल सार है कि हमें इन विकारी भावनाओं को छोड़ें और सरलता की ओर बढ़ें। जिस परिवार में यह सरलता नहीं होगी वह परिवार प्रायः छिन्न-भिन्न ही पाया है।

बच्चे भी हमारे ओछे क्रियाकाण्ड प्रधान धर्म को देख-सुनकर उकताए रहते बनते हैं। प्रायः जितने मात्र क्रियाकाण्डी होते हैं उनमें स्वभावतः क्रोधादि कषायों की मात्रा अधिक होती है। सोमदेव सूरि ने ऐसे क्रियाकाण्ड प्रधान धर्म की एक घटना का उल्लेख किया है जहां क्रियाकाण्डी एक कुत्ते को केवल इसलिए मार डालते हैं कि उसने उनके पूजन द्रव्य को जूठा कर दिया था। मेरे कहने का यह अर्थ नहीं है कि धर्म में क्रिया नाम का कोई तत्त्व न हो। क्रिया के बिना धर्म रहेगा कहां ? मैं तो मात्र इतना ही कहना चाहती हूं कि क्रिया के साथ जब तक मानसिक-शुद्धि नहीं, सम्यग्ज्ञान की धारा उसके साथ जुड़ी नहीं, तब तक वह धर्म तो नहीं, और कुछ भले ही हो। बालकों के समक्ष हमें धर्म का ऐसा रूप रखना चाहिए जो सीधा, सरल, नैतिक और व्यावहारिक हो और हमारे धर्म के विपरीत न हो।

यह निर्विवाद तथ्य है कि हमारा जैनधर्म पूर्ण वैज्ञानिक है। व्यक्ति-व्यक्ति को शान्ति देने के लिए इसमें अनेक सुन्दर मार्ग स्पष्ट किये गये हैं। परन्तु कठिनाई यह है कि इसे हम न अच्छी तरह समझ सके हैं और न समझा सके हैं। ऐसी स्थिति में यदि युवा वर्ग क्रियाकाण्ड को देखकर, उसी को धर्म का मूल रूप समझकर धर्म से दूर भागने लगे और फिर हम उन्हें पथभ्रष्ट कहने लगें तो यह गलती वस्तुतः उनकी नहीं, हमारी है। हम उनको धर्म का सही रूप बता नहीं सके और न उनकी शक्ति का सही उपयोग कर पाये। उनके प्रश्नों का समाधान कठोर वचनों अथवा दण्डों से नहीं, बल्कि सही दिशादान से होना चाहिए। इसमें हमारे परिवारों की सरलता विशेष उपयोगी हो सकती है।

विधि विधान की पृष्ठभूमि में साधारण तौर पर व्यक्ति के मन में कोई न कोई आशा लगी रहती है। व्यक्ति सांसारिक आशा से भिन्न-भिन्न प्रकार के तथाकथित धार्मिक आचरण भी करता है। कभी-कभी उसके आचरण की प्रक्रिया से ऐसा भी लगने लगता है कि वस्तुतः उसका आचरण किसी धर्म से सम्बद्ध नहीं, बल्कि लौकिकता की अभिवृद्धि से जुड़ा हुआ है। धर्म तो वस्तुतः आत्मिक विकारों को शान्त करने का एक ऐसा मार्ग है जिसके पीछे परम शान्ति की सुगन्ध महकती रहती है। उस महक से वह व्यक्ति स्वयं तो सुवासित होता ही है, साथ ही आस-पास के वातावरण को सुगन्धित और सुखद बना देता है।

भारतीय संस्कृति में धार्मिक विधि-विधानों की एक लम्बी परम्परा है। इस परम्परा में भक्ति परम्परा का सम्बन्ध ऐसे विधिविधानों से है जिन्हें हम पूर्णतः

धार्मिक नहीं रह पाते । जैन धर्म निवृत्ति परम्परा से सम्बद्ध है । और निवृत्ति परं-
परा से सम्बद्ध होने के कारण उसके विधि-विधान भी शुद्ध धार्मिक होना चाहिए ।
धर्म अकृत्रिमता अथवा स्वाभाविकता का दूसरा नाम है यदि हमारा लक्ष्य परमसुख
और निर्वाण की प्राप्ति की ओर है तो उसके साधन स्वरूप विधि-विधान भी परम
धार्मिक होना चाहिए ।

जैन दर्शन आत्मा के ही विशुद्ध स्वरूप को परमात्मा मानता है । इस पर-
मात्मपद की प्राप्ति के लिए उसे किसी साधन की आवश्यकता नहीं होती । यह
आत्मचिन्तन करते हुए पर पदार्थों से मोह छोड़ते हुए क्रमशः आगे बढ़ सकता है
और अर्हन्त-सिद्ध अवस्था प्राप्त कर सकता है । इस अवस्था की प्राप्ति के लिए
धार्मिक विधि-विधान एक सोपान किंवा साधन के रूप में स्वीकारे गये हैं । चाहे वह
मूर्ति-पूजा हो अथवा विधान, चाहे वह उपवास हो अथवा कीर्तन, ये सभी वस्तुतः
बाह्य साधन हैं ।

जैन संस्कृति के विकासात्मक इतिहास को देखने से यह पता चलता है कि
जैन धर्म मूल रूप से इनको विधि-विधानों का पक्षपाती नहीं है । उत्तरकाल में विविध
पंथ-गच्छ परम्पराएं आयीं और उनके माध्यम से शासन देवी-देवताओं की भक्ति,
उपासना, पूजा पाठ आदि साधनों का प्रारम्भ हो गया । इन सभी पर वैदिक संस्कृति
का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा ।

अब प्रश्न उठता है कि वर्तमान संदर्भ में इनकी आवश्यकता क्या है ? आज
की शार्ट कट संस्कृति यह मांग करती है कि उसे कम समय और शक्ति में अधिक से
अधिक फल मिले । साधना का क्षेत्र तो निश्चित ही बड़ा लम्बा, चौड़ा और गम्भीर
है । उसमें एकायक प्रवेश करना भी सरल नहीं है । इसलिए युवा पीढ़ी को आक-
र्षित करने के लिए धार्मिक विधि-विधान निश्चित ही उपयोगी साधन हैं । ये साधन
ऐसे हैं जिनमें व्यक्ति अपने आपको कुछ समय के लिए रमा लेता है और आगे की
सीढ़ियों पर चढ़ने की पृष्ठभूमि तैयार कर लेता है । यदि कोई निश्चयनय मात्र की
बात करके व्यवहारनय की उपेक्षा कर दे तब तो वह मात्र आत्मा की ही बात करता
रहेगा और मंजिल तक पहुंचने के लिए शायद ही उसे कभी सौभाग्य मिल सकेगा ।
दुनिया में कोई भी धर्म ऐसा नहीं हुआ जो धार्मिक विधि-विधानों की उपेक्षा कर
सका हो । शुभोपयोग की जितनी भी प्रवृत्तियां हैं दान-पूजा आदि, वे सभी धार्मिक
विधि-विधानों के अन्तर्गत आ जाती हैं । ऐसी स्थिति में धार्मिक विधि विधान कैसे
भुलाये जा सकते हैं ?

आज की युवा पीढ़ी वर्तमान राजनीतिक और सामाजिक सन्दर्भों को देखकर

थे। उनमें न कोई सम्प्रदाय भेद रहता था और न कोई जाति की सीमा। मुनिराज का श्वेताम्बर आचार्य विजिका के दिगम्बर परिवार से अपनी पुत्री का सम्बन्ध करना और सठना का दिगम्बर श्रावक जयपुर के श्वेताम्बर श्रावक से अपने पुत्र का सम्बन्ध जोड़ना था।

इन सम्बन्धों से साम्प्रदायिक एकता बनी रहती थी। पारस्परिक विवाद मन्दिरों, मूर्तियों अथवा उपाश्रयों के सम्बन्ध में अधिक कटुता नहीं रहा करती था। क्योंकि हर सम्प्रदाय परस्पर में किसी न किसी रूप में सम्बद्ध रहता था। विवाद साम्प्रदायिकताजन्य होते हैं और विवाहों से इस प्रकार की साम्प्रदायिकता टूटती है, विवादों की जड़ स्वतः कट-सी जाती है और सम्बन्ध में मधुरता आती है जो सामाजिक विकास के लिए आवश्यक है।

सामाजिक प्रगति के लिए एक और अन्य आवश्यक साधन है—आर्थिक प्रगति जिसकी सम्भावना इस प्रकार के विवाह-सम्बन्धों से और अधिक बढ़ जाती है। सम्प्रदाय प्रदेशगत भी होते हैं और हर प्रदेश के अपने-अपने स्वतन्त्र साधन होते हैं जिनपर उसका व्यापार निर्भर करता है। यह व्यापार विवाह सम्बन्ध के माध्यम से पारस्परिक आदान-प्रदान बढ़ाता है, आर्थिक क्षेत्र का विकास होता है और अमीरी-गरीबी के बीच की खाई को भरने के नये साधन सामने आ जाते हैं।

विवाहों की साम्प्रदायिक परिधि के टूट जाने से शिक्षा जगत को भी लाभ होगा जिससे विभिन्न साम्प्रदायिक साहित्य का अध्ययन-अध्यापन बढ़ेगा। एक दूसरे के विद्यालयों में निःसंकोच प्रवेश होने से मानसिक गुत्थियाँ सुलझेंगी, अलगाव दूर होगा, कवियों व लेखकों को चिंतन की नई सामग्री मिलेगी।

आध्यात्मिक प्रगति के क्षेत्र में भी इस प्रकार के विवाह सम्बन्ध उपयोगी होते हैं। हर जैन सम्प्रदाय की आध्यात्मिक प्रक्रिया कुछ न कुछ भिन्न रहा करती है। विवाह सम्बन्ध उनमें पारस्परिक समझ और सामंजस्य स्थापित करेंगे जिससे अध्यात्म का क्षेत्र विकसित होगा और व्यक्ति तथा समाज की प्रगति रात दिन बढ़ेगी।

प्रत्येक सम्प्रदाय के साथ उसकी संस्कृति जुड़ी रहा करती है। जब विभिन्न जैन सम्प्रदायों में विवाह सम्बन्ध आरम्भ हो जायेंगे तो स्वभावतः संस्कृतियों में आदान-प्रदान होगा और एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय के उपयोगी तत्वों को ग्रहण कर लेगा। लोकनृत्य, लोकगीत, लोकनाट्य लोककथाएं जैसी विधाएं परिपुष्ट होंगी, दहेज की विकरालता कम होगी, और अनेक कुरूढ़ियों का अन्त होगा।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि हर जैन सम्प्रदाय की संस्कृति भिन्न

रखती है इसलिए उनके बीच विवाह सम्बन्ध सांस्कृतिक एकता को नष्ट नहीं कर सकेंगे। पर यह कहना बिल्कुल गलत होगा। एकता में अनेकता और अनेकता में एकता विवाह के माध्यम से ही सम्पादित हो सकती है जो विकास का प्रथम चरण है। वैचारिक तथा भाषा विषयक असमानता भी स्वत: समाप्त होती जायेगी। पारिवारिक सम्बन्धों में तनाव रहेंगे यह सोचना भी गलत होगा। तनाव का यहां कोई प्रश्न ही नहीं है। यहां तो वस्तुत: बन्धुत्व का वातावरण होगा। आज शिरपुर, केसरियाजी, शिखरजी जैसे विवादों का कलंक हमारे माथे पर लगा हुआ है। ऐसे विवादों को शमन करने में अन्तर्जातीय विवाह उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। सांस्कृतिक अभिव्यक्ति में थोड़ा समय अवश्य लग सकता है पर उससे स्थायी शक्ति की आशा अधिक की जा सकती है।

अत: मेरी दृष्टि में तो सम,ज की सर्वांगीण प्रगति के लिए जैन संप्रदायों के बीच विवाह संबन्ध होना आवश्यक है। सांस्कृतिक एकता, शैक्षणिक, आर्थिक तथा आध्यात्मिक प्रगति के लिए विवाह जैसे तत्व की उपेक्षा अब नहीं की जा सकती है। समाज सेवकों और चिंतकों को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इस विषय पर विवेकात्मक रूप में चिन्तन करना चाहिए।

× × ×

महिला वर्ग समाज का एक अभिन्न अंग है। जो वस्तु अविच्छिन्न होती है उसके विकास के लिए समाज का हर वर्ग सामने आ जाता है। यही कारण है कि आज समाज का हर वर्ग महिला समाज के अभ्युत्थान के लिए सचेष्ट है। इस संदर्भ मे हमे यह बात अच्छी तरह समझ में आ जानी चाहिए कि जब तक हम स्वयं अपने मन में विकास की बात नही सोचेंगे तब तक कोई कितनी भी शिक्षा दे हम आगे नहीं बढ़ सकते। स्वयं की उत्सुकता, ललकता, परिश्रम, प्रतिभा, त्याग आदि जैसे गुण हर प्रकार के विकास के मूल कारण कहे जा सकते हैं। समाज के निर्माण में हमारा त्याग, हमारा बलिदान, हमारा परिश्रम हमारी स्वयं की अर्जकता है और प्रतिभा इन सभी को जोड़ने का एक सूत्र है। त्याग, परिश्रम और प्रतिभा का संयोजन समाज के स्वस्थ स्वरूप की संकल्पना के लिए मूल स्तम्भ है जिसपर हमें अपने जीवन को अवलंबित करना है।

नारी वर्ग की कुछ अपनी सीमाएं होती है जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। पर सीमा के साथ एक असीमता भी जुड़ी रहती है और वह असीमता मातृत्व शक्ति है जो प्यार, पारस्परिक प्रेम और सह-अस्तित्व का पाठ सिखाती है। इस दृष्टि से समाज के निर्माण में हमारा महत्वपूर्ण योगदान रहा हुआ है। यदि

[illegible]

हममें अपनी शक्ति को नहीं पहचाना तो न तो हम स्वयं बढ़ सकते हैं और न दूसरों को उठाने की क्षमता बनी रह सकती है। इसलिए सबसे प्रथम कर्तव्य यह है कि हम स्वयं की शक्ति को पहचानें। इस गुण के साथ हमारी ईमानदारी, हमारी नम्रता और हमारी प्रामाणिकता रहे तो जीवन कहीं और अधिक सुनिश्चित बन सकता है। प्राणिमात्र का कल्याण करने वाला यह जैन धर्म व्यक्तिनिष्ठ होकर समाजनिष्ठता की बात करता है। इस दृष्टि से बालकों के व्यक्तिगत विकास के लिए तथा समाज के इतर घटकों के अभ्युदय के लिए हमें अपनी जिम्मेदारी समझनी होगी। पुरुष वर्ग का सहयोग लेकर यह कार्य अधिक सफलता पूर्वक हो सकता है। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि हमारा आचार-विचार शुद्ध धार्मिक और नीतिपरक हो।

× × ×

नारी और पुरुष जीवन-रथ के दो पहिये माने गये हैं जिनके परस्पर साहचर्य और सहकार के बिना वह संसार-पथ पर शान्तिपूर्वक नहीं चल सकता। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहां ये दोनों वर्ग परस्पर मिलकर धर्मसाधना करते रहे, समाज सेवा में जुटे रहे और अपनी आत्मिक प्रगति करते रहे। पर यह बात भी किसी से छिपी नहीं है कि प्राचीनकाल में नारी का जीवन बड़ा कुंठित रहा है। साधारण तौर पर पुरुष ने नारी वर्ग को मात्र भोग्या माना और उसकी जन्मजात प्रतिभा को उन्मेषित करने के लिए कोई भी साधन प्रस्तुत नहीं किये। यह एक ऐसा तथ्य है जिसे चाहते हुए भी कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। नारी समाज ने जिन विकट परिस्थितियों में अपने जीवन को व्यतीत किया, वह विचारणीय है। उनका ध्यान आते ही हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

जहां तक प्रतिभा की बात है वह प्रायः सभी के पास होती है। क्षयोपशम की हीनाधिकता, पुरुषार्थ का साधन और अनुकूल परिस्थितियों की निर्मिति व्यक्ति के चरित्र को बनाने में विशेष कारण हुआ करती है। यदि समान रूप से अभिव्यक्ति के साधन सभी को जुटा दिये जायें तो कोई कारण नहीं कि व्यक्ति अपना विकास न कर सके। भगवान् महावीर के अनुसार सभी की आत्मा बराबर है चाहे वह स्त्री हो या पुरुष। आत्मा में ही परमात्मा बनने की शक्ति विद्यमान है। अतः कोई भी आत्मिक विकास करके परमात्म अवस्था पा सकता है। उसमें लिंगभेद का प्रश्न ही नहीं। नारी अपनी आत्मिक शक्ति को पहचानकर अपना उच्चतम विकास कर सकती है। नर की भांति नारी में भी अनन्तशक्ति है, इसे अब कोई नकार नहीं सकता। लिंगभेद की आवश्यकता शक्ति एकत्रित करने की आवश्यकता हो सकती है।

नारी में अभिव्यक्ति की क्षमता होते हुए भी उसे अपनी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता नहीं दी गई। यह कारण है कि साहित्य, राजनीति अथवा अध्यात्म के क्षेत्र में पुरुष वर्ग के समक्ष नारी वर्ग का उतना योगदान दिखाई नहीं देता। सृष्टि के प्रारम्भ से ही पुरुषों के समान नारी वर्ग भी क्या साहित्य का सर्जन नहीं कर सकता था, पर करता कैसे? उसे तो मात्र घर का खिलौना बना लिया गया था। उसके पास चूल्हा-चक्की और पति को प्रसन्न रखने के अतिरिक्त समय ही कहाँ था? आज ये सारी परिस्थितियां और संदर्भ बदलते चले जा रहे हैं और पुरुष वर्ग महिला वर्ग को क्रमशः स्वतन्त्रता देता चला जा रहा है। देता क्यों नहीं? नारी आन्दोलन का उग्र रूप उसके सामने जो था। परिणामस्वरूप जब कभी नारी को अपनी प्रतिभा और शक्ति का प्रदर्शन करने का अवसर मिला, उसने उसका भरपूर उपयोग किया। यही कारण है कि आज हर क्षेत्र में महिलाओं का योगदान दिखाई दे रहा है।

आज के सन्दर्भों में हम जब महावीर को लाकर खड़ा करते हैं तो ऐसा लगता है कि महावीर बड़े क्रांतिकारी विचारक थे। उन्हें हम मात्र अध्यात्मसाधक नहीं कह सकते। उनके सिद्धान्तों की ओर ध्यान देने से तो हमें ऐसा लगता है कि जितना काम उन्होंने आत्म साधना के क्षेत्र में किया उससे भी कहीं अधिक समाज की संरचना में उनका हर सिद्धान्त आत्मचिन्तन के साथ आगे बढ़ता है और उसकी परिनिष्ठा समाज की प्रगति में पूरी होती है। इसे हम दूसरे शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि महावीर ने व्यष्टि के साथ ही समष्टि पर ध्यान दिया और आदर्श परिवार के निर्माण में अपने सिद्धान्तों की सही व्याख्या की।

महावीर के मूल सिद्धान्त अहिंसा को सभी जानते हैं। इस एक सिद्धान्त में उनके समूचे सिद्धान्त गर्भित हैं। परिवार को आदर्शमय बनाने में उनकी विशेष उपयोगिता देखी जा सकती है। परिवार का हर सदस्य यदि संकल्प कर ले कि वह किसी दूसरे के दिल को दुखाने का उपक्रम नहीं करेगा तो संघर्ष होने की बात ही नहीं आयेगी। वस्तु को यथातथ्य प्रस्तुत करना, एक दूसरे के अस्तित्व पर कुठाराघात न करना, आचरण में विशुद्धि बनाये रखना और आवश्यकता से अधिक पदार्थों का संकलन न करना तथा सभी की दृष्टियों का समादर करना ऐसे तथ्य हैं जिन पर आदर्श परिवार की संरचना टिकी हुई रहती है।

महावीर ने आत्म-संयम की भी बात बड़े विश्वास के साथ कही। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि आत्म-संयम ही एक ऐसा साधन है जो व्यक्ति-व्यक्ति के बीच शान्ति स्थापित कर सकता है। नारी यदि आत्मसंयम की बात ग्रहण कर ले तो घर-घर में जितने बर्तन बजते हैं, उनका बजना बन्द हो जाय। नारी यदि कथनी और करनी

में अहंकार न रहे तो उसका सारा परिवार खिल उठे। क्रोध, तृष्णा और ईर्ष्या का भाव न आवे तो परिवार का हर सदस्य सामंजस्य के वातावरण में फूला न समावे।

महावीर ने कहा कि वैर से वैर की शांति नहीं होती, कितनी सुन्दर बात है। आज प्रायः हम देखते हैं कि बुराइयां हमारी संकीर्णता के कारण होती हैं और वे संकीर्णतायें इतने वैरों को जन्म दे देती हैं कि उससे परिवार के सारे सदस्य उलझते ही चले जाते हैं, सुलझ नहीं पाते। यदि हम महावीर की वाणी का अनुगमन करें तो वैर के स्थान पर प्रेम का वातावरण प्रस्तुत कर सकेंगे जिससे परिवार विघटन के कगारों से बच सकेगा।

जहां तक सुसंस्कार जाग्रत करने की बात है, यह उत्तरदायित्व विशेष रूप से महिलाओं का है। छोटे-छोटे बालकों का जीवन-निर्माण उनकी माताओं पर निर्भर करता है। हमारी आदर्शनिष्ठा बालकों के सुकोमल जीवन को सही मार्ग की ओर प्रेरित कर सकती है। चारित्रिक विकास की दृष्टि से बालकों के समक्ष आदर्श महापुरुषों की जीवनी कहानी के रूप में बतलाकर उन्हें सुपथ पर अग्रसर कर सकते हैं।

जीवन का स्वरूप मर्यादाओं का पालन करना है। जिस जीवन में मर्यादा नहीं वह जीवन की परिभाषा से विलग स्थिति कही जा सकती है। नदी की मर्यादा के समान नारी का जीवन भी किसी प्रकार की मर्यादाओं से बंधा रहता है। उसे हर क्षण अपनी मर्यादाओं पर ध्यान देना आवश्यक है। यदि वह उन मर्यादाओं का उल्लंघन करके "माडर्न मर्म" बनना चाहे तो परिवार को जलाये बिना उसे शांति नहीं मिल सकती।

हमें परिवार को जलाना नहीं, बनाना है, मिटाना नहीं, उठाना है। इस स्थिति में पहुंचने के लिए नारी वर्ग के हर प्रतिनिधि को अपनी शिक्षा पर विशेष ध्यान देना होगा। उसे शिक्षा के हर क्षेत्र में अपने पूरे पुरुषार्थ से आगे बढ़ना है। शिक्षा के बिना उसकी कोई गति नहीं। जहां गति नहीं, वहां जीवन नहीं। नारी को अपना जीवन सही रूप से जीना है। प्रसन्नता की बात है कि आज का नारी वर्ग शिक्षा के क्षेत्र में पुरुष वर्ग से कम आगे नहीं बढ़ा। इसका प्रमाण हमारी हर परीक्षाओं के परीक्षाफल हैं। वह भौतिक शिक्षा के साथ ही आध्यात्मिक शिक्षा की ओर भी काफी बढ़ा हुआ है। परन्तु, नारी की कुछ अपनी समस्यायें हैं जैसे दहेज-प्रथा, पर्दा प्रथा, विधवा जीवन इत्यादि, जिनका समाधान हुए बिना उसकी प्रगति संभव नहीं दिखती।

इस प्रकार महावीर ने नारी की अनेक समस्याओं पर गंभीरतापूर्वक सोचा और प्रचलित परम्परा के विरोध में खड़े होकर नारी को स्वतन्त्रता का दान दिया। उनकी ही क्रांतिकारी विचारधारा के परिणामस्वरूप नारी पुरुष के कंधे से कंधा मिलाकर अध्यात्म क्षेत्र में उतर सकी। इसे हम नारी मुक्ति का आन्दोलन कह सकते हैं। महावीर ने नारी को प्रगति पथ पर लाने के लिए जो कुछ भी किया, वह अविस्मरणीय है और रहेगा। वह तब और सार्थक माना जा सकता है जबकि नारी वर्ग उसके बताये मार्ग पर चलकर आदर्श परिवार की संरचना करे तथा अपनी आत्म-शक्ति को पहिचाने। साथ ही पुरुष वर्ग उसे अनुकूल वातावरण प्रदान करें। रथ के दोनों चक्र जब तक समन्वय की साधना नहीं करते तब तक परिवार में सुख और शांति नहीं हो सकती। प्रतिष्ठा और गजरथ महोत्सव जैसी प्रभावनात्मक धार्मिक गतिविधियां भी तभी सार्थक मानी जा सकती हैं जबकि हम महावीर भगवान द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर भलीभांति चलकर तृतीय विश्व युद्ध के कगारों पर खड़ी दुनियां को अहिंसा का शान्ति सन्देश सुनावें। अन्यथा निर्धनों के समय और पैसे का दुरु-पयोग तथा धूमधाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा। नारी वर्ग इस लक्ष्य की प्राप्ति में निश्चित ही अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है।

इस प्रकार समतावादी और पुरुषार्थवादी जैन दर्शन नारी चेतना को पुर-स्कृत करने का पूर्ण पक्षपाती है। कुछ समस्याएं ऐसी भी हैं जिन्हें समाधानित करने के लिए नारी को स्वयं ही कमर कसनी होगी। पुरुषवर्ग उसमें निमित्त भले ही बन सकता है। निमित्त-नैमित्तक आधार लेकर जैन सिद्धान्त के अनुसार वस्तुतः नारी की आध्यात्मिक और व्यावहारिक समस्याओं का समाधान अन्वेषणीय है।

× × ×

देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार वस्तु और व्यक्ति को परखने के मापदण्ड बदलते रहते हैं। एक समय था जब नारी घरेलु काम-काज में दक्ष होने मात्र से 'आदर्श गृहिणी' समझी जाती थी लेकिन अब एक आदर्श गृहिणी बनने से ही नारी जीवन की इतिश्री नहीं होती। उसे कुछ और आगे बढ़कर सोचने की आवश्यकता है।

आज के भौतिकवादी युग में मानव जीवन भय, संत्रास, कुंठा और निराशा से भरा हुआ है। लोगों में जीवन के प्रति कोई आस्था नहीं दिखाई देती। यह सब बदलते हुए संदर्भों का ही परिणाम है। ऐसी स्थिति में आज कृत्रिमता और सुख-दुख के प्रति निःसंगता का भाव परिवार के सदस्यों में दृष्टिगोचर हो रहा है। फलतः

शनैः शनैः परिवार विघटित होते जा रहे हैं। विदेशों में पारिवारिक विघटन की प्रक्रिया तो स्वाभाविक कही जा सकती है परन्तु भारत जैसे सुसंस्कृत और शान्तिप्रिय देश में विघटन के मूल तत्वों को समूल नष्ट करना आवश्यक है।

नारी अनन्त शक्ति की स्रोतस्विनी है और विविध-रूपा भी। पुत्री, पत्नी एवं माता के ममतामयी रूपों में उसका व्यक्तित्व प्रतिभासित होता है। इन सभी रूपों की भूमिका निभाने का तात्पर्य है एक बहुत बड़े उत्तरदायित्व को सम्हालना। शायद वह व्यस्तता भरे जीवन के कारण इन उत्तरदायित्वों को पूर्णतया निभाने में सक्षम नहीं हो पा रही है। इसीलिए परिवारों में विघटनकारी तत्व नजर आने लगे हैं। ऐसा लगता है, अब महिलाएं अधिक आत्म केन्द्रित होकर अपने कर्त्तव्य से विमुख होती जा रही हैं। इसे हम नारी शिक्षा या अशिक्षा का परिणाम कहें या परिस्थिति जन्य पर्यावरणगत विफलताएं, यह प्रश्न विचारणीय है।

इतिहास साक्षी है कि समय-समय पर नारी स्वातन्त्र आन्दोलन भगवान महावीर, महात्मा बुद्ध, राजा राम मोहन राय, रामकृष्ण परमहंस आदि जैसे क्रान्तिकारी महापुरुषो और समाज सुधारकों द्वारा होते रहे हैं। उनके प्रगतिशील उपदेशों से प्रेरित होकर नारी वर्ग ने स्वयं में जागृति लाने का प्रयत्न किया। फिर भी उसमें अपेक्षित जागृति नही आ सकी। अपेक्षित जागृति लाने के लिए आधुनिक युग में भी अनेक आन्दोलन हुए। स्वतन्त्रता और समानता का अधिकार देने के उद्देश्य से अन्तरराष्ट्रीय महिला वर्ष भी मनाया गया। पर इन सबके बावजूद जो प्रगतिशीलता महिलाओं के व्यक्तित्व में समाविष्ट होनी चाहिए थी वह नही हो पायी। इसका प्रमुख कारण रहा-परिस्थितियों के अनुकूल उसकी शिक्षा-दीक्षा का अभाव।

परम्परागत शिक्षा नीति अपनाने से महिलाओं में अपने वैचारिक दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने की योग्यता नहीं आ पाई। हाँ, आधुनिक का मुखौटा उसने अवश्य ओढ़ लिया। दुर्भाग्यवश वह शिक्षित होकर यूरोप और अमेरिका जैसे संपन्न देशों की नव युवतियों का अंधानुकरण करने लगी। पर वे सब काम हमारी समाज में हमारी भारतीय संस्कृति के अनुकूल बैठते हैं या नहीं, इस प्रश्न पर तनिक भी विचार नहीं किया।

अब आवश्यकता है अंधानुकरण को रोक कर परिवारों को समायोजित करने की, विसंगतियों और विघटनकारी प्रवृत्तियों को रोकने की, तथा कुंठा, भय और उत्पीड़न से निर्मुक्त होने की। बिना इसके वह अपने कदम आगे नहीं बढ़ा सकती। आज मानव भरपेट भोजन पाकर भी संतोष की सांस नहीं ले पाता। उसे हमेशा

में [illegible] [illegible] के लिए उन्हें [illegible] और [illegible] भी चाहिए। [illegible] तथा [illegible] शक्ति और विज्ञान का [illegible] [illegible] में हो रहा है, सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन भी बड़ी तेजी से हो रहे हैं। इन परिस्थितियों का प्रभाव महिलाओं के दैनिक जीवन पर पड़े बिना कैसे रह सकता है ? अतः इन सभी तथ्यों को समझने की क्षमता शिक्षित नारी में होने की आवश्यकता है। यद्यपि सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों की जानकारी के अतिरिक्त, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में होने वाले परिवर्तनों की जानकारी भी परमावश्यक है।

महिलाएं अपने मधुर स्वभाव, कर्मठ कार्यक्षमता, व्यवस्थित संयोजनशीलता तथा आत्मीय विश्वसनीयता से समाज और परिवार के विविध घटकों में परस्पर सौहार्द और सौजन्य का वातावरण बना सकती हैं। पुरुष वर्ग स्वयं उस मिठास भरे वातावरण से आकर्षित होकर पारिवारिक उत्तरदायित्व में पूरी तन्मयता के साथ जुट जायेगा, घरेलु कार्यों में हाथ बटाकर संसार की शिक्षा-दीक्षा में भरपूर साथ देगा तथा महिलाओं को भी आगे बढ़ने, प्रगति करने और अपनी प्रतिभा को विक-सित करने का पूरा अवसर प्रदान करेगा।

वस्तुतः बालकों में उत्तम संस्कारो के निर्माण करने, परिवार को उन्नत बनाने और संतान को सुशिक्षित करने की जिम्मेदारी महिलाओं की अपनी है। संस्-कारों का बनना-बिगड़ना सामाजिक वातावरण पर निर्भर करता है। किन्तु सर्वाधिक उत्तरदायित्व माता के रूप मे नारी पर ही है क्योंकि पुरुष तो दिन भर अर्थोपार्जन के निमित्त प्रायः घर से बाहर रहते हैं। बालकों को जीवनोपयोगी शिक्षा देने तथा उनके दैनिक क्रिया-कलापों की देख रेख करने का गुरुतर भार भी उनके ही कंधों पर रहता है। इसीलिए उन्हें गृहिणी कहा गया है। "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः" वाला कथन महिला के महत्व को स्पष्ट द्योतित करता है।

महिलाएं ही परिवार के प्रत्येक सदस्य के बीच पारस्परिक समझ का भाव जाग्रत करके दो पीढ़ियो के बीच समन्वय स्थापित कर सकती हैं। वे अपनी सहज सूझ-बूझ, सहानुभूति, सहिष्णुता, और सद्भावना जैसे माधुर्य गुणों द्वारा नई और पुरानी पीढ़ी के बीच वैचारिक दृष्टिकोण में मतभेद के कारण जो दरार पड़ जाती है उसे पाट सकती हैं। परिवार में विघटन प्रायः सास और बहू इन दो पुरानी और नई पीढ़ी में मतभेद होने के कारण ही होते हैं। ऐसे समय पुरानी पीढ़ी की महि-लाओं को जो आज सास के रूप में हैं, सोचना चाहिए कि वे भी कभी बहू थीं। इस स्थिति में उनको अपनी भूमिका [illegible] और [illegible] से [illegible] चाहिए। साथ ही आधुनिक वातावरण में पढ़ी-लिखी बहु-बेटियों के [illegible] में [illegible] और

आदर्शमय वातावरण का निर्माण कर स्वयं को उसमें आत्मसात कर लेना चाहिए। दूसरी ओर आधुनिक शिक्षित महिलाओं को भी पुरानी पीढ़ी के पारिवारिक मूल्यों के प्रति सम्मानास्पद भाव रखकर अपने आपको घरेलु वातावरण के अनुकूल बनाने का भी प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार दोनों पीढ़ियों के द्वारा समन्वयात्मक दृष्टि-कोण अपनाने से महिलाएं परिवार और समाज के विघटन को बचा सकती हैं।

पारिवारिक विघटन में आर्थिक विसंगति भी एक कारण होता है। शिक्षित महिलाएं सुरसा जैसी बढ़ती मंहगाई के इस युग में परिवार के सदस्यों को शैक्षणिक जैसे उत्तम प्रकार के क्षेत्रों में सर्विस करके आर्थिक सहयोग भी दे सकती हैं। पर यह तथ्य भी यहाँ दृष्टव्य है कि कतिपय शिक्षित महिलाएं, विशेषतः नौकरी-पेशा वाली, पारिवारिक विघटन में कारणभूत बन जाती हैं। इस कथ्य की पृष्ठभूमि की ओर यदि हम दृष्टिपात करें तो यह पायेंगे कि जो पुरुष या महिलाएं अर्ध-शिक्षित रहती हैं, उनमें ज्ञान की गम्भीरता का आभास न होने से अहं-मन्यता आ जाती है। पर जो महिलाएं पूर्णतया शिक्षित रहती हैं और निरन्तर अपने को आगे बढ़ाने में प्रयत्नशील रहती हैं, उनमें प्रायः अभिमान की भावना नहीं रहती। ऐसी ही महिलाएं आर्थिक सहयोग प्रदान कर अपने परिवारों को समायोजित कर सकती हैं।

नई पीढ़ी भौतिक चकाचौंध में गुमराह हो जाती है। उसे अपने आदर्शमयी जीवन की प्रस्तुति के माध्यम से बचाया जा सकता है। इसके लिए बदलते मानव मूल्यों के अनुकूल घरेलु वातावरण को प्रस्तुत करना आवश्यक होगा। यदि परिस्थि-तियों से जूझने की क्षमता, धैर्य और सहनशीलता जैसे सहज-स्वाभाविक गुण उनमें पुनर्जीवित हो जावें तो परिवार भलीभांति समवेष्ठित बने रह सकते हैं। ऐसी नारी जिनसेनाचार्य के शब्दों में उल्लेखनीय बन जाती है—

विद्यावान्, पुरुषो लोके सम्मुति याति कोविदैः।
नारी च तद्वती धत्ते, स्त्री सृष्टेरग्रिमं पदम् ॥

आध्यात्मिकता जीवन का सौन्दर्य है। धार्मिक और सामाजिक कर्तव्य उसके सुगन्धित पुष्प हैं। अधिकार में पिरोयी हुई ऐसी क्षमता उसके गले की माला है। इसलिए शिक्षा के साथ ऐसा धार्मिक वातावरण आवश्यक है जिसमें कृत्रिमता, छल-कपट, मायाजाल की दुरूहता न हो। शुद्ध भोजन और आधुनिक व्यंजन यदि घर में ही पका दिये जावें तो होटलिंग से भी पारिवारिक सदस्यों को बचाकर उनके स्वास्थ्य की रक्षा की जा सकती है, आर्थिक समस्या तो होती ही है।

[illegible] के प्रति गहरी आसक्ति दहेज की वेदी है जिसमें प्रवेश करते ही व्यक्ति की मानवता कलंकित होने से नहीं बच पाती। इसका दुष्परिणाम जितना युवा महिला को भोगना पड़ता है उतना और दूसरे को नहीं। जीवन के इस कैन्सर को बड़े साहस, धैर्य और विवेक से समाप्त करना होगा। क्रान्ति करनी होगी। हृदय परिवर्तन करना होगा। शिक्षा के प्रचार-प्रसार से इस प्रकार की कुप्रथाएं शनैः शनैः समाप्त होती चली जायेंगी।

"अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी" कह कर राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त ने नारी जीवन की विवशता की ओर इंगित किया और "आंचल में है दूध और आंखों में पानी" कह कर ममता तथा सहिष्णुता जैसे स्वाभाविक गुणों की ओर संकेत किया। इन दो पंक्तियों में कवि ने समूची नारी को प्रस्तुत कर दिया है। परिस्थितियों से घुटने टेक देने का भी कारण कदाचित् उसकी ये ही स्वाभाविक वृत्तियां हैं। पुरुष की अहंमन्यता के साथ उनकी टकराहट होती है और परस्पर द्वन्द प्रारम्भ हो जाता है। नारी को ही अन्ततः उत्सर्ग की ओर अपने कदम आगे बढ़ाने पड़ते हैं। कामायनी के प्रमुख पात्र श्रद्धा-मनु का चरित्र विकास कदाचित् इसी तथ्य को प्रस्तुत करता है।

नारी ने सामाजिक उत्कर्ष में सदैव हाथ बढ़ाया है। राष्ट्रीय चेतना को भी उसने खूब जाग्रत किया है। पन्ना, धाय, पद्मिनी, लक्ष्मीबाई के उत्सर्ग को कौन भुला सकता है? सीता, सुलोचना, अजना, राजुल, चन्दन बाला, विजय कुला, हेमश्री, महत्तरा, पद्मश्री, मैना सुन्दरी प्रभृति नारियों के उज्ज्वल उदाहरण भी उसके साथ हैं। गार्गी, मैत्रेयी, लोपामुद्रा, ब्राह्मी, सुन्दरी के आदर्श जीवन उसके मुख्य सूत्र हैं। निर्गुण धारा की कवियित्रियों में दया बाई, सहजो बाई, उमाबाई, गवरी बाई आदि तथा सगुण धारा की कवियित्रियों में मीरा बाई, जयकुंवरी बाई, चन्द्रकला बाई, प्रताप कुंवरी बाई आदि प्रमुख ऐसी महिलाएं हुई हैं जिन्होंने अपने पवित्र जीवन पर आधारित साहित्य-सृजन से सारे समाज को आकृष्ट किया है।

उपर्युक्त तथ्यों से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि महिलाएं परिवर्तित परिस्थितियों में भी अपने परिवार और समाज को सुसंगठित रख सकती हैं और राष्ट्रीय एकता को कायम कर भारतीय संस्कृति को समृद्ध करने में योगदान दे सकती हैं। राजनीतिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, आर्थिक और शैक्षणिक वातावरण को स्वस्थ व सुसंस्कृत बनाने की दृष्टि से आज महिलाओं के ऊपर विशेष उत्तरदायित्व आ पड़ा है। यदि उनमें नारी चेतना और आत्म शक्ति जागृत हो जाये तो इस उत्तरदायित्व को वह बड़ी कुशलता पूर्वक निभा सकती है। "नारी शक्ति का प्रतीक

है' [illegible] को [illegible] [illegible] का [illegible] [illegible] में [illegible] होता हुआ देखना चाहता है। आओ, हम सब एक जुट होकर इस शक्ति को अपनाएं।

× × ×

जब राष्ट्रव्यापी भ्रष्टाचार की बात दिमाग में कौंधती है तो बरबस ही मन कराह उठता है सब कुछ कह देने को। लगता है जैसे एक कंठ [illegible] की तरह उसे न निगला जा सकता है और न उगला जा सकता है। उगलने से सचाई सामने आयेगी जो विद्रूप दिखेगी। और निगला इसलिए नहीं जा सकता कि उसको पचाना आज की [illegible] प्रगतिशील नारी के लिए सरल नहीं होगा। प्राकृतिक दृष्टि से निगलने की अपेक्षा उगलना निश्चित ही बेहतर होता है।

आज आम आदमी चौराहे पर खड़ा है। जैसे वह चक्रव्यूह में फंस गया हो। जिस रास्ते पर भी वह दृष्टिपात करता है वह उसे स्वच्छ और उन्मुक्त नहीं दिखाई देता। तथाकथित पथिक महाजन रिन की टिकियां से धुले स्वच्छ वस्त्रों से ढके भव्य दिखते हैं पर उनके कृत्यों को उघाड़ा जाये तो उनसे अधिक कृष्ण वर्ण का कोई और नहीं मिलेगा। ऐसे ही 'बगुला भगत' नेताओं से आज का समाज संत्रस्त हो गया है। उनकी कथनी और करनी मे कोई एकरूपता नही। हर क्षेत्र इस कैंसर से बुरी तरह पीड़ित है। आश्चर्य यह है कि हर आदमी जानता समझता हुआ भी इसे शिर पर लादे बेतहाशा दौड़ रहा है। उसे सुनने की भी फुरसत नहीं। कदाचित् इसलिए कि कहीं इस दौड़ में वह पीछे न छूट जाये। मात्र 'चलता है' कहकर वह आगे बढ़ जाता है।

पर इतना कहने मात्र से क्या होगा? यदि हमने इस उलझन भरे सवाल पर चिन्तन-मनन नहीं किया तो समाज में भटकाव बढ़ता ही जायेगा। उसे फिसलन से बचने के लिए कोई आश्रय नहीं मिलेगा। अतः आज आवश्यकता है उस विद्रूपता को समाप्त करके सौंदर्य लाने की और यह सौन्दर्य जीवन-रथ का दूसरा पहिया भी ला सकता है। अर्थात् महिलाएं विषमता में समता और सौन्दर्य लाने का कार्य बड़ी सुगमता, सक्षमता और सहृदयता के साथ कर सकती हैं। उनकी प्रकृतिगत कोमलता और मातृत्व शक्ति परिवार को हरा-भरा करने में बड़ी मददगार सिद्ध हो सकती है। कुछ व्यावहारिक कठिनाइयां अवश्य आयेंगी पर उन्हें अपने सरल और सहनशील स्वभाव से झुककर मार्ग को निष्कंटक बनाया जा सकता है।

प्रश्न है, राष्ट्र में [illegible] और [illegible] की तरह बढ़ते हुए [illegible] जैसे भ्रष्टाचार के प्रति क्या महिलाएं जिम्मेदार नहीं हैं? क्या उनकी आकांक्षाएं

आवश्यकतायें पूरी करने की पृष्ठभूमि में, पुरुष वर्ग की बहुसंख्यकों जिन्दगी आपाधापी नहीं करती ? आज कल जैसे-जैसी मंहगाई के समय भूखे रोग से ग्रस्त बालक के समान तुतले-बतसे वेतन अथवा व्यापार से उनकी पहाड़ जैसी मांगे पूरी हो सकती है ?

इस पैसे प्रश्न का उत्तर गम्भीर नदी के तट पर बैठकर निश्चलता पूर्वक देखा होगा। मन का हर कोना अगल-बगल झांकेगा कुछ कहने न कहने को, विवश होगा तथ्य के उद्घाटन में स्वयं को कटघरे के अन्दर खड़े करने को। तभी सत्य की परतें उघड़ेंगी, वस्तु स्थिति सामने आयेगी और रोग से मुक्त होने का रास्ता नजर आयेगा।

इसमें दो मत नहीं हो सकते कि आधुनिकता किंवा भौतिकता के प्रवाह में आधुनिक नारी अपने आपको जितनी प्रवाहित करती जा रही है उतनी ही अनैतिकता समाज और राष्ट्र मे फैलती जा रही है। आधुनिकता के चक्कर में उसके अरमानों, आवश्यकताओं और अपेक्षाओं की इतिश्री विराम लेने की राह पर दिखती नहीं। उसका दृष्टिकोण घनघोर भौतिकतावादी होता जा रहा है।

आज की जी-तोड़ मंहगाई, आसमान को छूते चीजों के भाव और सिर पर बेकारी का आंधी शिरदर्द। इन सभी ने मानव मूल्यों का ह्रास अवस्तल तक गिरा दिया है। इस स्थिति में आधुनिकता का जामा यदि और ओढ़ लिया जाये तो समाज अनैतिकता के गहन कीचड़ में फंसे बिना रह कैसे सकता है? फैशन परस्त महिला का आये दिन बदलते फैशन के साथ चलने के लिए जी मचल उठता है और उसकी फरियाद पुरुषवर्ग के सामने बढ़ जाती है। साधन सीमित और आवश्यकताएं असीमित आखिर क्या करे अर्थोपार्जित करने वाला। परिवार के सदस्यों को खुश रखने और समाज में तथाकथित स्टेटस को बनाए रखने के लिए उसे विवश होकर कुछ और करना पड़ता है। यही 'कुछ और' उसे अनैतिक और भ्रष्टाचारी बनाने को बाध्य कर देता है।

नारी के बाह्य सौन्दर्य का उपासक पुरुष मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नारी के समक्ष अपने को असहाय और दुर्बल सिद्ध नहीं करना चाहता। उसकी आकांक्षाओं के सामने वह साधारणतः घुटने टेकने के लिए तैयार नहीं हो पाता। इसलिए पारिवारिक शांति की दृष्टि से वह सौन्दर्य प्रसाधनों की हर हिसाब सामग्री को जुटाने में जुट जाता है, पहल कदमी करता है और हर विरोधी तर्क को फीकी-मीठी दलील मानकर आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कोई भी अनैतिक मार्ग अपनाने में संकोच नहीं करता।

इसी सन्दर्भ में अब हमें यह सोचना आवश्यक हो जाता है कि पुरुष वर्ग के इस नैतिक पतन में क्या हम उत्तरदायी नहीं हैं ? हमारा मूक मत निश्चल हो जाने पर निश्चित ही बोल उठेगा विधेयात्मक स्वर में। निकल उठेगी अवश्य वाणी "हम भी इस नैतिक पतन में कारणभूत हैं।" चिन्तन की यही क्षणिका जीवन में परिवर्तन ला सकती है।

वस्तुतः वह आधुनिकता भी किस काम की जो हमारे आत्मीयजनों को भ्रष्टाचार के मार्ग पर आरूढ़ कर दे, राष्ट्र को पतन के गर्त में फेंकने का मार्ग प्रशस्त कर दे, आन्तरिक सौन्दर्य को मटियामेट करने का बीड़ा उठा ले ? कहां गया हमारा वह भारतीय जीवन दर्शन जिसमें अहिंसा और अपरिग्रह की गौरव गाथाएं जुड़ी हुई हैं, सन्तोषी वृत्ति को सहजता पूर्वक अपनाने पर बल दिया गया है, घात–प्रतिघातों को शान्ति पूर्वक सहन करने का आह्वान भी है।

हमारी आध्यात्मिक विचारधारा का अवलम्बन ले रहे हैं पाश्चात्यवासी और एक हम हैं कि अपनी ही पवित्र धरोहर को समाप्त करने पर तुले हुए हैं, और भौतिकवादी दृष्टिकोण अपना रहे हैं, पाश्चात्य सभ्यता की जूठन का अन्धानुकरण कर रहे हैं। जैसा हम जानते हैं, भौतिक सुख-समृद्धि के आधुनिक साधनों से वास्तविक सुख और शान्ति नहीं मिल सकती। जितना हम भोगते जाते हैं, उतनी ही हमारी चाहें बढ़ती जाती हैं। उनकी अपूर्ति हो जाने पर मन प्रसन्न अवश्य हो उठता है पर वह प्रसन्नता क्षणिक होती है, आभास मात्र होती है। अनैतिकता के दलदल में पनपा पेड़ कहां तक हरा भरा रहेगा ?

भारतीय संस्कृति इसीलिए अध्यात्म पर जोर देती है, जीवन को समग्रता से देखने का आह्वान करती है, और नैतिकता को आन्तरिकता के साथ जोड़ने का पुरजोर समर्थन करती है। यहां मेरे कहने का यह भी तात्पर्य नहीं कि हम एकदम विशुद्ध अध्यात्मवादी बन जायें। अध्यात्मवाद तो वास्तविक जीवन का अभिन्न अंग है, एक स्वाभाविक संघटना है। विशुद्धता की स्थिति तक पहुंचने का यथाक्रम प्रयास ही सफलता का सही साधन बन सकेगा।

भ्रष्टाचार पनपाने में जहां हम कारणभूत हैं वहीं उसके उन्मूलन की जिम्मेवारी भी आज की विषम परिस्थिति में हमारे शिर पर है। हम सीमित आय के दायरे में अपने संयमित जीवन को सीमित इच्छाओं के माध्यम से सुखद बना सकते हैं और कैंसर की तरह बढ़ने वाले संक्रामक इस दूषित आचार-विचार को फैलाने से रोक सकते हैं। हमारी यह भूमिका आज की कालाबाजारी, मिलावट, घूसखोरी आदि जैसी विनाशक बुराइयों को दूर करने में महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा कर सकती है। अतएव हम चहारदीवारी से निकलकर पुरुषार्थ के मार्ग को अपनायें और नैतिकता तथा आध्यात्मिकता से विरत जीवन को प्रशस्त बनाने में अपनी प्रतिभा और स्वाभाविक शक्ति का यथासम्भव प्रयोग करें। नारी मुक्ति का आन्दोलन युगानुरूप यह

गया है। हमें स्वयं का पुनर्मूल्यांकन करना होगा और व्यष्टि तथा समष्टि में आध्यात्मिक चेतना को जाग्रत कर जीवन को सही दिशा पर लाना होगा। स्वस्थ वातावरण में फलता-फूलता जीवन का समकक्ष स्वस्थ पृष्ठ एक दिन अवश्य महक उठेगा। इस कामना के साथ हम अपनी बहिनों से इस विचार-बिन्दु पर मन्थन करने का विनम्र आह्वान करते हैं।

× × ×

इन जिन सारे बिन्दुओं पर हमने छुटपुट चर्चा की है वे सब नारी जीवन को आन्दोलित करने वाले हैं। जैन संस्कृति की मूल आस्था में नारी को कहीं ठुकराया नहीं गया बल्कि उसकी शक्ति को पहिचाना गया, पहिचानने के लिए प्रेरित किया गया। परन्तु उत्तरकाल में परिस्थिति-वश उसकी व्याख्याएं परिवर्तित होती रहीं और नारी के व्यक्तित्व के हर कोने पर ढेरों वर्क की मोटी परतें लगा दी गईं। जाग्रत चेतना को हठात् या बलात् अज्ञानता का वातावरण देकर उसे सुप्त कर दिया गया। चहारदीवारी के भीतर उसे मात्र अलंकार का साधन बना दिया गया। दूसरों के निर्णय पर उसका जीवन तैरने लगा, नाव खेवट कोई और रहा। वह मात्र पुतलीवत् बैठा दी गई। उसी पुतली को अधिकार में लाने के लिए इतिहास में न जाने कितना खून बहा है और मांगों के सिन्दूर से नदियां रक्तिम हुई हैं।

अब समय कुछ पलटा खा रहा है जहां नारी की सुप्त चेतना को जाग्रत होने का वातावरण उपलब्ध होने लगा है। अब तो वस्तुतः उसकी अस्मिता का प्रश्न है। उसे तो हर सड़ी पुरातन परम्परा को विद्रोह के सही स्वर मे झुलसा कर प्रगति के चरणों को प्रशस्त करना है। जैन संस्कृति की आध्यात्मिक चेतना इस स्वर को संयमित करेगी और उसे विद्रोह की कठोरता तथा असामाजिकता के अहंमन्य कंगूरों को तहस-नहस कर शिष्ट और सामाजिक तथा नैतिक तत्वों से जोड़े रखेगी, ऐसा हमारा विश्वास है। पाश्चात्य सभ्यता के दूषित रंग ने यदि नारी समाज को रंगीला बना दिया तो 'पुनर्मूषको भव' की कथा चरितार्थ होने में भी अधिक समय नहीं लगेगा। यह संक्रमण की अवस्था है जहां नारी की स्वयं की शक्ति उसकी धर्म चेतना उसके विवेक पर प्रतिष्ठित होती है। महावीर की वाणी उस विवेक को स्वयं संयुक्त बनाने के लिए पर्याप्त है बशर्ते उसे सही दिशा में समझा-समझाया जाये। महावीर का "पढमं नाणं तओ दया" सूत्र महिला वर्ग के जीवन को आन्दोलित करने वाला सिद्ध होगा। ज्ञान और चारित्र के उज्ज्वल क्षेत्र में बढ़ने से आत्म-निर्भरता, सह-अस्तित्व, संयम और सद्भाव की चेतना विकसित होगी और व्यष्टि से समष्टि तक नैतिक और आध्यात्मिक चेतना के नये आयाम प्रस्फुटित होंगे।